भूमिका

आयुर्वेद विज्ञान नहीं है, उसकी रचना वैज्ञानिकपद्धतिपर नहीं है, यह तो कुछ टोना-टोटका झाड़नेवालोंका खिलवाड़ है, वैद्य लोग अयोग्य और मानने योग्य नहीं हैं। इस तरहकी बातें कुछ वर्षों पहले बम्बईकी लेजिसलेटिव कौंसिलमें सुनाई पड़ी थी। इसके बाद मद्रासकी लेजिसलेटिव कौंसिलमें भी आयुर्वेदका अपमान करनेमें कोई कसर नहीं रखी गयी थी। बहुतसे [illegible]क्टर भी जब-तब ऐसी ही ऊटपटांग हांका करते हैं। इन्हीं बातोंको ध्यानमें [illegible] स्वर्गीय रीवां नरेश महाराजाधिराज, राजराजेश्वर ले० कर्नल सर वेंकटरमण [illegible]हजू देव बान्धवेश जी. सी. एस. आई. महोदयने मुझसे कहा था कि 'हम चाहते [illegible] कि संसारको यह दिखला दिया जाय कि आयुर्वेद खाली सब चिकित्साविद्याओंसे [illegible]चीन ही नहीं, बल्कि श्रेष्ठ भी है और ऐसी मजबूत वैज्ञानिक नींवपर उसकी रचना [illegible] है कि वह किसीकी हिलाई नहीं हिल सकती। इसीलिये हमारी इच्छा है कि [illegible]युर्वेदविद्यालय खोलकर ऊंचे दर्जेके वैद्य तैयार किये जायँ और वे आयुर्वेदका [illegible] उज्ज्वल करें।' उनकी इच्छाके अनुसार आयुर्वेदविद्यालयको बनाना और [illegible]ताना वैद्यसम्मेलनके हाथ है; परन्तु दूसरे उपायसे आयुर्वेदकी वैज्ञानिक खूबियोंको [illegible]ट करना व्यक्तिगत प्रयत्नोंसे भी हो सकता है। इसीलिये स्वर्गीय श्रीमान रीवां-[illegible]राकी इच्छाको हृदयमें रख लगातार अनवकाश रहने पर भी एक दूसरी [illegible]गासे इसी महीनेमें मैंने इस पुस्तकके लिखनेमें हाथ लगाया। मुझे दुःख है कि [illegible] पुस्तकको देखकर किसी अंशमें प्रसन्न होनेके लिये महाराज वेंकटरमण सिंहजू [illegible] पांचभौतिक शरीरसे इस संसारमें नहीं हैं। तथापि उनके आत्मरूप वर्तमान [illegible]ांनरेश महाराजाधिराज श्रीमान् बान्धवेश गुलाबसिंहजू महाराजको भी इससे [illegible]न्नता होगी तो भी मुझे सन्तोष होगा।

अभी पिछले ही साल प्रयाग म्युनिसिपलिटीकी ओरसे लड़कियों और स्त्रियोंकी

शिक्षा और परीक्षाकी सुविधाके लिये महिला-विद्या-पीठकी स्थापना हुई है। उसकी विदुषी-परीक्षाके पाठ्यक्रममें 'रसपरिचय' का भी एक विषय रखा गया है। उसकी पूर्तिके लिये उसके वाइसचांसलर बाबू संगमलालजी अग्रवाल एम. ए. एल. एल. बी. ने मुझे प्रेरणा की। आजकल करते-करते अन्तमें इस महीनेमें मैंने इसे लिखना आरम्भ किया। पहले इस विषयको संक्षेपमें केवल परीक्षाके योग्य लिखने-का विचार था; किन्तु लिखते समय यह विचार उठा कि इस विषयकी पूरी पुस्तक लिखनेके लिये फिर क्यों समय मिलने लगा और क्यों उसके लिये उत्तेजना उत्पन्न होने लगी। इसलिये मैंने अपनी लेखनीको स्वतन्त्र छोड़ दिया और उसे अधिकार दे दिया कि जब इच्छा हो, तब विश्राम लेना। तथापि पुस्तक बहुत बढ़ती देख अन्तमें उसे रोकना पड़ा। चाहे यह मेरे स्वभावकी दुर्बलता ही हो; मनको काबूमें न रख सकनेका फल ही हो; तथापि इच्छा मेरी यही रहती है कि ज[illegible] विषय लिखा जाय वह साफ और ऐसा विस्तृत हो कि पढ़नेवाला समझ ले [illegible] आयुर्वेदका अगाध भण्डार संक्षिप्त होने पर भी किसी विषय में कमजोर तथा ही[illegible] नहीं है। इसीलिये इसका विस्तार भी मुझे रुचिकर और 'स्वान्तःसुखाय' का कार[illegible] हुआ है। हां कन्याओं और स्त्रियोंके लिये यह अवश्य कुछ भारी हो गया है।

अतएव विदुषी परीक्षावाली लड़कियों और स्त्रियोंको परीक्षाके लिये पूरी पुस्त[illegible] पढ़नेकी आवश्यकता नहीं है। वे इसके रसोंकी उत्पत्ति, रसोंकी प्रकार-सिद्धि, रसोंके पहचान, रसोंकी कार्यशक्ति, रसोंके गुण और क्रम तथा रसोंके अधिक सेवन[illegible] परिणाम नामक प्रकरणोंको पढ़कर ही परीक्षाके योग्य हो सकती हैं। किन्तु इ[illegible] विषयकी पूरी जानकारी चाहनेवाली स्त्रियाँ और विदुषीसे ऊपर सरस्वती परीक्षावा[illegible] स्त्रियां इसे अवश्य पूरा पढ़ें। आयुर्वेदके अभ्यासियोंके लिये और हिन्दी भाष[illegible] द्वारा आयुर्वेदका मर्म जाननेकी इच्छा रखनेवाले वैद्योंको इसे अनिवार्य रूपसे अच्[illegible] तरह परिशीलन करना चाहिये। आहार ही शरीरका पोषक है और वह आ[illegible] रसोंके द्वारा ही शरीर पर अपना सुफल अथवा कुफल उत्पन्न करता है। इसलि[illegible] प्रत्येक स्त्री-पुरुषको प्रत्येक आरोग्याभिलाषीको भी यह पुस्तक पढ़ना आवश्यक ह[illegible]

रस पदार्थोंके गुण हैं; इसलिये पहले गुणोंका नाम गिनाकर, फिर पदार्थों[illegible] उत्पत्तिके कारण, पञ्च महाभूतोंका वर्णन और उनके द्वारा पदार्थोंकी सृष्टिका व[illegible] कर तब असली विषयमें प्रवेश किया गया है। रसोंकी उत्पत्ति, अवस्थाएँ

रसान्वेषण पर शास्त्रार्थ (महर्षियोंके और राजर्षियोंके कमीशन द्वारा रसोंका निर्णय), रसोंके प्रकार, उनकी पहचान, कार्य-शक्ति, सामर्थ्य, उनके गुण कर्म, रसोंके अधिक सेवनसे हानि, रसोंका वातादि दोषों पर प्रभाव, प्रकोप और शमनका रहस्य, रसोंका पदार्थोंकी योनिसे सम्बन्ध और प्रभाव, रसों पर ऋतुओंका असर, रसोंकी भेदकल्पना, रसोंके गण (किन किन पदार्थोंका समावेश किन किन रसोंमें होता है), रसोंकी कार्य शक्ति, आहार-रस निरूपण, रसोंके गुण-वीर्य-विपाक और प्रभावका निरूपण, द्रव्य-रस आदिकी प्रधानता, रस-वीर्यादिका विशेष वर्णन, विचित्रप्रत्ययारब्धकारी (प्रभावका रहस्य उद्घाटन) और रसपरिज्ञानकी महिमा प्रकरणोंको लिख कर पुस्तक पूर्ण की गयी है। आहार और विरुद्धाहारका (क्योंकि उसमें रसोंकी विकृतिका प्रभाव पड़ता है) वर्णन भी हम इसीके साथ कर देना चाहते थे; परन्तु वह भिन्न विषय होनेके कारण और पुस्तकका विस्तार और भी अधिक होजानेके भयसे उसे सम्मिलित न करना ही अच्छा समझा।

इस प्रकार रसोंके विषयमें यह पुस्तक उपपत्तिपूर्वक वैज्ञानिक रहस्य प्रकट करनेवाली हुई है। आयुर्वेदको तुच्छ समझनेवाले और उसपर अवैज्ञानिकता की जबरदस्ती मुहर लगानेकी इच्छा रखनेवाले, पश्चिमी चकाचौंधसे चौंधियाकर पश्चिमी डाक्टरोंकी बातोंका अनुवाद करनेवाले, पश्चिमीयविद्याविशारद डाक्टर और उनके अन्धभक्त नयी रोशनीसे चौंधियाये हुए नवयुवक देखें कि जिस शास्त्रमें एक एक विषयका इतना ऊहापोह हुआ है, उसकी इतनी बारीकीसे छानबीन की गयी है, उसको शक्ति और प्रभाव, वीर्य और विपाक समझनेमें इतनी सूक्ष्म वैज्ञानिक निपुणता दिखलाई गयी है, उसकी संयोग-संख्याकल्पना और प्रभावकल्पनामें कमाल किया गया है क्या वह शास्त्र कभी अवैज्ञानिक कहा जा सकता है? यदि अभिमान न समझा जाय-और राष्ट्रीयजात्यभिमान होना अनुचित भी नहीं है—तो यह कहनेमें संकोच न होना चाहिये कि पश्चिमीविज्ञान अभी तक इतने गहरे पहुँच भी नहीं पाया है, वह तो अभी आरम्भिक पाठ ही पढ़ रहा है। पूर्वी और पश्चिमी विज्ञानकी पद्धतिमें अवश्य [illegible] से ही आरम्भ होता है। पश्चिमी विज्ञान कुछ सा[illegible] च समझता है; परन्तु पूर्वीविज्ञान उन पाँच शक्तिये[illegible] योगसे पदार्थोंकी सिद्धि होती है, तथापि इससे किसी [illegible] पहुँचता। उपपत्ति-

पूर्वक सकारण ज्ञान करा देना ही विज्ञान है। अतएव आयुर्वेदकी वैज्ञानिकतामें सन्देह करना ही उपहास योग्य है। जोहो, मुझे इस बातसे सन्तोष अवश्य होता है कि भारतकी आधुनिक प्रचलित देशी भाषाओंमें यह पुस्तक पहली ही है जिसमें रसोंका इस प्रकार क्रमवद्ध विवेचन किया गया हो। जो विषय वाग्भट और सुश्रुतके दो-चार पृष्ठोंमें तथा चरकके दश-बारह पृष्ठोंमें पूर्ण हुआ है, उसे इतना विस्तृतरूप देनेमें जो परिश्रम हुआ है, उसे सार्थक करना हिन्दी पाठकों, आयुर्वेदाभ्यासियों और वैद्योंके हाथ है।

यह बहुत ही गहन विषय हैं, इसका विवेचन करनेके लिये मुझ जैसे अल्पज्ञकी योग्यता ही क्या है? इस विषयका योग्यतापूर्वक वर्णन करनेके लिये न्याय और सांख्यशास्त्र की दक्षता होना अनिवार्य आवश्यक है, किन्तु मुझमें उसका अभाव है। अतएव बहुत सुयोग्य हाथों द्वारा यह पुस्तक जैसी उत्तम लिखी जा सकती थी, वैसी तो यह हो ही कैसे सकती है; तथापि इस बातका मैंने भरसक प्रयत्न किया है कि मेरी अल्पज्ञताके कारण पाठकोंकी भ्रान्तिवृद्धि न होने पावे। पाठकोंसे निवेदन है कि वे जहाँ कहीं भ्रमपाठ पावें मुझे उसकी सूचना दें। अवकाशके अभावसे एक महीनेके भीतर ही यह भी जो कुछ हो गया, वह मेरे लिये आश्चर्यका और विघ्न-विदारी, कार्यसम्पन्नकारी जगन्नियता जगदीश्वर भगवान धन्वन्तरिके प्रति भक्ति और कृतज्ञता प्रकट करनेका कारण हैं। इसमें जो कुछ भी हो सका है, वह आयुर्वेद-गुरु स्वर्गवासी आयुर्वेदमहोपाध्याय पण्डित शंकरदाजी शास्त्रीपदेके आशीर्वाद और ग्रन्थप्रसाद का फल है। मेरी वर्तमान कृतिके सर्वप्रथम भोक्ता और अधिकारी सुधानिधिके पाठक हैं; अतएव खण्डशः यह पुस्तक सुधानिधि द्वारा सर्वप्रथम उन्हीं की सेवामें पहुँचेगी और तब पुस्तकरूपसे सर्वसाधारणकी सेवामें उपस्थित होगी।

मार्गशीर्ष शुक्ल १२
सं० १९७९

सेवक
जगन्नाथप्रसाद शुक्ल

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

रसादिपरिज्ञानका प्रथम संस्करण सं० १९८० विक्रमीयवर्षमें प्रकाशित हुआ था। इस तीस वर्षमें अब परिस्थिति बहुत बदल गयी है, प्रथम संस्करण समाप्त हुए कई वर्ष हो गये। द्वितीय संस्करणके लिए आवश्यक संशोधनका अवकाश मुझे न था। मैंने चाहा कि इस कार्यको मेरे कोई पुत्र या मित्र ही कर डालें; किन्तु वैसा भी नहीं हो सका। इसी बीच में हरिद्वारमें आयुर्वेदमार्त्तण्ड पण्डित यादव जी त्रिकमजी आचार्य आयुर्वेदवाचस्पतिकी प्रेरणा और वैद्यनाथ आयुर्वेद भवनके संचालक पं० रामदयालुजोशी और पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्रीजीकी उदारतासे हरिद्वारमें २० मई सन् १९५३ से २७ मई १९५३ तक आयुर्वेदशास्त्रचर्चापरिषदका अधिवेशन हुआ। इस परिषदके विचारणीय विषय द्रव्य, गुण, रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव रखे गये थे। मुझे भी आग्रहपूर्वक इस परिषदमें बुलाया गया था। अतएव इस सम्बन्धकी आवश्यक पुस्तकें लेकर मैं इस विचारसे हरिद्वार आया कि परिषदसे प्राप्त प्रेरणाके आधार पर लगे हाथ इसी समय हरिद्वार या देहरादूनमें रहकर इस पुस्तकके संशोधन का कार्य भी सम्पन्न कर डालूं।

परिषदकी चर्चाका कार्य बहुत बोधप्रद रहा। इसी बीच देहरादूनसे वैद्यवाचस्पति पण्डित धर्मस्वरूप रतूडीजी वैद्यराज आये और मुझे आग्रहपूर्वक देहरादून लिवा ले गये। रतूडीजी एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता होने के साथ ही आयुर्वेदकी उन्नति के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं। अपने उत्साह और जोशीली उद्यमशीलताके कारण अपने जिलेको चमकाये रहते हैं और अपनी दून फार्मेसी के द्वारा शास्त्रोक्त औषधि निर्माणका आदर्श स्थापित कर रहे हैं। देहरादूनमें स्थानकी सुविधा और मेरे जैसे एक शताब्दी पूर्वकी खानपान की व्यवस्थावाले पुरुषके लिये सब प्रकार की सुविधा प्राप्त होना भी सहज नहीं है। किन्तु श्री १०८ गुरुरामरायजी महाराज दरबारकी गद्दीके महन्त श्री १०८ महन्त इन्दिरेशचरणदासजीकी कृपा और उदारतासे विगतवर्षके समान इस वर्ष भी वह सब सुविधा प्राप्त हो सकी। महन्तजी महाराज स्वयं एम. ए. हैं। विद्याप्रेमी हैं। आपने अपने पुरुषार्थसे पहले हाईस्कूल खोला और अब उसे कालेज बना दिया है। कालेजमें आप स्वयं बड़े उत्साहके साथ पढ़ाते भी हैं। कालेजके भवन निर्माणके समय आप सिर पर टोकरी रखकर पत्थर चूना आदि दूसरे मंजिलमें पहुँचाते थे। आपके इस उच्च आदर्श और लगनको देख अध्यापकों और विद्यार्थियोंने भी श्रमदान देकर विद्यालयके प्रति आत्मीयता प्रकट की थी। आप किसी याचक को विमुख नहीं करते। विद्वानों का

आदर सत्कार करने में सदा तत्पर और अग्रणी रहते हैं। आयुर्वेदके भी आप प्रबल प्रेमी और समर्थक हैं। देहरादून जिलेका प्रथम वैद्यसम्मेलन आपके द्वारा ही उद्‌घाटित हुआ था। जब प्रान्तीय वैद्यसम्मेलनका अधिवेशन देहरादून में हुआ था तब आप उसके स्वागताध्यक्ष थे और उसकी सफलताके लिये आपने तन-मन-धन से पूर्ण सहयोग किया था। आप कुछ औषधियोंका वितरण भी किया करते हैं। श्रीजगन्नयनबहुगुणके आयुर्वेद कालेजको आपका आशीर्वाद प्राप्त है। ऐसी अनुकूल और उदार छत्रछायामें निश्चिन्त होकर इस पुस्तकका संशोधन कार्य सम्पन्न हो सका है।

आरम्भमें इस पुस्तकके लिखनेका प्रयास आयुर्वेदकी वैज्ञानिकता प्रकट करने के उद्देश्यसे हुआ था। इस तीस वर्षकी अवधि में अब रस-वीर्य-विपाक और प्रभावकी वैज्ञानिकता एवं उपादेयता चिकित्सा जगत्‌में प्रतिष्ठित हो चुकी है। अब इस सम्बन्धमें शंकाशीलता प्रकट करना अपनी अल्पज्ञता ही प्रकट करना होगा। अब तो इस विषयको वैज्ञानिक विधि से चिकित्सा जगत् के समक्ष प्रकट करना ही उचित प्रयास कहा जायगा। प्रथम इस पुस्तकका निर्माण रीवां-नरेश बान्धवेश सर वेंकटरमणसिंहजू देवकी प्रेरणासे हुआ था; किन्तु इसके प्रकाशित होनेके समय तक उनका स्वर्गवास हो चुका था। अब तो उनके पुत्र महाराज गुलाबसिंहजी भी न रहे। यही क्यों इस स्वतन्त्रभारत के युगमें न नरेश रहे और न उनके राज्य रहे। अब अखिल भारतमें जनताका राज्य है, जनता का वैभव है। परन्तु अभी तक जनता अपना वह स्वरूप समझकर प्रकट करने में समर्थ नहीं हुई कि अपने स्वदेशी चिकित्सा विज्ञान को राष्ट्र का चिकित्सा विज्ञान बना सके। उसके वैज्ञानिक रहस्यका प्रकाश विश्वमें फैलाने का प्रयत्न अपनी सरकार द्वारा करा सके। आयुर्वेद का वैज्ञानिक वैभव इसी आशासे दिनों-दिन प्रकाशमें लाया जा रहा है कि सरकार विदेशी चिकित्सा शास्त्रकी दासतासे मुक्त हो और अपने आयुर्वेद की उन्नति और प्रचार उसकी अभिवृद्धि और पूर्ति करते हुए उसे पूर्ण रूपसे सर्वतोभावेन जनकल्याणहितकारी बना सके।

जिस समय सं० १९८० में यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उस समय इस विषयकी ऐसी स्वतन्त्र पुस्तक हिन्दी ही क्या मराठी, गुजराती, बंगाली किसी भाषामें नहीं थी। अब हालमें ही पण्डित यादवजी त्रिकमजी आचार्य-लिखित 'द्रव्य-गुणविज्ञान' नामक पुस्तकके पूर्वार्ध में इस विषय का विवेचनात्मक विचरण प्रका-

शित हुआ है । अनेक प्रसंगोंमें इस विषयकी चर्चा हुई है और आयुर्वेदीयशास्त्र-चर्चापरिषदमें तो विधिवत् इस पुस्तक का आधार लेकर विषयपर विचार हुआ है। इन सब बातों को ध्यानमें रख इसका संशोधन हुआ है । पहले यह पुस्तक 'महिलाविद्यापीठके' ही पाठ्यक्रममें थी, किन्तु अब तो बोर्ड ऑफ् इण्डियन मेडिसिन और हिन्दीसाहित्यसम्मेलन की परीक्षाओं के परीक्षार्थियों के लिये भी इसका पढ़ना अनिवार्य रूपसे आवश्यक हो गया है । सबसे पहले इसके नाममें ही परिवर्तन हुआ है, क्योंकि इसमें केवल रसका ही विवेचन नहीं बल्कि रसके साथ ही वीर्य, विपाक प्रभाव आदि का भी इसमें विचार हुआ है । अतएव 'रसादिपरिज्ञान' नाम उचित समझा गया है । रस कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं । वे द्रव्यमें रहनेवाले गुण हैं, और द्रव्य भी पदार्थ का अंश है । इसलिये इस संस्करण में पदार्थ का संक्षिप्त किन्तु स्वतन्त्र वर्णन किया गया है । यद्यपि पदार्थ विज्ञानके सम्बन्धमें मेरी लिखी हुई प्रमाणविज्ञान (पदार्थ और द्रव्यकी सिद्धि प्रमाणोंके द्वारा ही होती है), पदार्थविज्ञान, द्रव्यविज्ञान, गुणविज्ञान और पुरुषविज्ञान (क्योंकि शरीरधारी पुरुषकी ही चिकित्सा की जाती है) नामक पांच भागोंमें पुस्तक है तथापि प्रसंगवश उसका उल्लेख आवश्यक था। द्रव्यविज्ञान का जिन्हें विशेष वर्णन जानना है वे मेरे द्रव्यविज्ञानसे उसे जान सकेंगे; किन्तु जब रस द्रव्यके आश्रयीभूत है तब रस-वर्णनके पहले द्रव्यका वर्णन करना भी आवश्यक समझा गया । रस-भी द्रव्यका गुण है; अतएव द्रव्यके सभी गुणों का वर्णन कर देना प्रसंगवश उचित समझा गया । यों रसमें अपने कोई गुण नहीं होते, गुण निष्क्रिय होते हुए भी कर्मके लिये कारण होता है; इसलिये कर्म का वर्णन करना भी उचित हुआ है । रसों का स्थान, संयोग, अग्निपाक, भावना, देशकाल, परिणाम, उपसर्ग और विक्रियासे रसान्तर हो जाता है, उसका वर्णन दिये बिना रसका वर्णन पूरा नहीं समझा जा सकता था। इन नये भागोंके अतिरिक्त पुराने विषयोंके वर्णनमें भी बहुत वृद्धि हो गयी है, जिसके कारण पुस्तक का आकार दूना हो गया है । जो हो, किन्तु पुस्तक पहलेकी अपेक्षा कई गुणा अधिक उपयोगी हो गयी है । विद्यार्थी ही नहीं विद्वान वैद्योंके लिये भी इसका पढ़ना और मनन करना पूर्ण सहायक होगा।

देहरादून
ज्ये० सं० २०१० वि० }

जगन्नाथप्रसाद शुक्ल

विषय-सूची

* श्री धन्वन्तरये नमः *

रसादिपरिज्ञान

वसि रसना रस लेत जो रसिकशिरोमणि श्याम ।
करहिं कृपा जगदीशपर सोई रसेश सुखधाम ॥

विषय-प्रवेश

पदार्थपरिज्ञान

इस पुस्तकमें द्रव्यगत रस–विकाप–वीर्य और प्रभावका वर्णन करना अभीष्ट है। किन्तु रस–विपाक–वीर्य और प्रभाव द्रव्यके गुण हैं और स्वयं द्रव्य पदार्थका अंश है। अतएव विषयप्रवेशमें पहले पदार्थ विषयक परिचय अभीष्ट है। पदार्थकी सिद्धि और ज्ञानके लिये पहले प्रमाण शास्त्र जाननेकी आवश्यकता पड़ती है। प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण, आप्त और शास्त्रप्रमाण तथा युक्तिप्रमाणोंके द्वारा यह ज्ञान सम्पादित होता है। प्रमाणोंके द्वारा किसी पदार्थके ज्ञानकी अर्थप्राप्ति होती है; इसीलिये 'अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्' कहा जाता है। यथार्थ अनुभवका नाम प्रमा है। अतएव पदार्थका ज्ञान 'प्रमा' है और पदार्थ 'प्रमेय' है। ऐसे विषयके पाठक 'प्रमाता' कहे जाते हैं। अतएव 'येऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः' अथवा 'पदस्य पदयोः पदानां वा अर्थः' 'पदार्थः'। किसी पदके द्वारा जिस नामधेय का अर्थबोध हो उसे पदार्थ कहते हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि 'पदजन्यप्रतीति-विषयत्वं पदार्थत्वम्'। अर्थात् किसी पदको उच्चारण करनेसे जो संज्ञासम्बन्धी ज्ञान होता है उसे पदार्थ कहते हैं। क्योंकि पदार्थके नामको संज्ञा कहते हैं। वैशेषिक शास्त्रके अनुसार पदार्थमें १ अस्तित्व, २ ज्ञेयत्व और ३अभिधेयत्व ये तीन लक्षण होने आवश्यक हैं। अर्थात् किसी पदके कहने पर उसका सार्थकत्व और विद्यमानता हो, उसके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त की जा सकती हो और उसका कुछ नाम या संज्ञा हो।

इस प्रकारके संज्ञावाले पदार्थमें १ द्रव्यत्व, २ गुणत्व, ३ कर्मत्व, ४ सामान्यत्व, ५ विशेषत्व और ६ समवायत्व होना अपेक्षित है अर्थात् पदार्थ द्रव्य रूप होना

आवश्यक है। द्रव्यके साथ ही उसमें गुण और कर्मकी विद्यमानता हो, उसकी कोई जाति या समूहसूचक वर्ग होना अपेक्षित है, जिसका किसी अन्य समूहसे अलग निर्देश किया जासके अर्थात् वह नित्यद्रव्यवृत्तिवाला विशेष पदार्थ हो। जिसके संगठनमें तत्वोंका समवाय रूपसे अविच्छिन्न नित्य सम्बन्ध हो। वह पदार्थ है। दूसरी भाषामें कह सकते हैं कि पदार्थ ६ हैं—१ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य, ५ विशेष और ६ समवाय। पदार्थका ज्ञान मनुष्यको इन्द्रियोंके सहारे होता है। पदार्थमें जो द्रव्यत्व होता है, उसमें भी गुण और क्रियाका आधार होना चाहिये। द्रव्य ही पदार्थके पदार्थत्वकी मुख्यता है। क्योंकि क्रिया (कर्म) और गुण द्रव्यमें ही समवेत रहते हैं। यही नहीं द्रव्यमें क्रियावत्वं, गुणवत्वं और समवायिकारणत्वं ये तीनों लक्षण होने चाहिये। आयुर्वेदोक्त बीस गुणोंमेंसे कुछकी पूर्ति पदार्थमें अपेक्षित है, यही नहीं बुद्धिसम्बन्धी गुण, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध अर्थादि गुण, प्रयत्नान्त परादि गुण और सत्व-रज-तम मानस गुणोंका भी उसमें समावेश होना चाहिये। कर्मोंमेंसे १-उत्क्षेपण, २-अवक्षेपण, ३-आकुञ्चन, ४-प्रसारण तथा ५-गमनादिमेंसे कुछ कर्मोंका भी होना आवश्यक है। सामान्य जातिबोधक या वर्गबोधक धर्म है। मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति, खनिज आदि वर्गके समान सामान्यत्व धर्म उसमें आगन्तुक नहीं बल्कि जाति संगठनमें आरम्भसे ही होना अपेक्षित है। जिस प्रकारका जातिसूचक धर्म एकमें हो उसी प्रकारका उस जातिके अनेक व्यक्तियोंमें भी हो। वह धर्म उसमें नित्य या सदा वर्तमान रहे। ऐसा जातिधर्म संयोग या विभाग रूपसे आश्रित नहीं होना चाहिये। एक मनुष्यमें जो सामान्य धर्म होता है वह सभी मनुष्योंमें होता है। गौ, अश्व, ऊंट, हाथी जातिमें जो सामान्यरूपकत्व है वह सभीमें है। यही जाति या वर्गसूचक सामान्य धर्म है। सामान्यके दो भेद हैं। १ पर, २ अपर। सम्पूर्ण सामान्य आश्रयमें जिसकी वर्तमानता अधिक व्यापक होती है, अर्थात् जिसकी वृत्ति अधिकतर विषयोंमें रहती है उसे परसामान्य (हायर) कहते हैं। इसके विरुद्ध जो सामान्य कमव्यापक होनेके कारण संकुचित सीमावाला होता है उसे अपरसामान्य (लोअर) कहते हैं। परको उच्चता देनेवाली सभी जातिमें व्यापक होती है, व्याप्य नहीं। पर सत्ता जातिरूप होती है और अपर सत्ता उपाधिरूप होती है। जैसे मनुष्यका मनुष्यत्व शुद्ध या पर जाति सामान्य है; किन्तु ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व आदि औपाधिक उपाधि प्राप्त सामान्य है। विशेष धर्म व्यक्तिवाचक होता है वह किसी एक वस्तुको दूसरीसे भिन्न व्यक्त करनेवाला होता है। 'अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुर्विशेषः' अर्थात् जो अत्यन्त व्यावृत्तिका हेतु हो; एकको औरोंसे अलग करने-बिलगानेका हेतु हो, उसे विशेष कहते हैं। घटत्व एक द्रव्य है; किन्तु अन्य सभी वर्तन या घटभेदके संघटनात्मक परमाणु भिन्न भिन्न होते हैं, प्रत्येक परमाणुका अपना

अलग व्यक्तित्व होता है। इसी व्यक्तित्वको विशेष समझना चाहिये। भावपदार्थोंका अन्तिम धर्म समवाय है। अविच्छिन्न नित्यसम्बन्धरूपसे अयुतसिद्ध सम्बन्धका नाम समवाय है। द्रव्य-गुण और क्रियाके साथ जातिका मिलन और नित्य द्रव्यमें विशेषके मिलनको समवायसम्बन्ध कहते हैं। वस्त्रमें तन्तुका, गुलाबके फूलमें गुलाबीरंगका, मनुष्यमें मनुष्यत्व लक्षणका, घड़ेका मिट्टीसे समवायसम्बन्ध है। समवायसम्बन्धमें दोनों सम्बन्धियों की सत्ता पृथक् रूपसे नहीं रहती। इसके विपरीत एक संयोगसम्बन्ध भी होता है। जो नित्य नहीं, अनित्य होता है। किसी वृक्षपर एक पक्षी आ बैठा, यहां पर वृक्ष और पक्षीका संयोग सम्बन्ध हुआ किन्तु यदि वह पक्षी उड़ जाय तो संयोग सम्बन्ध भंग हो जायगा। अतएव संयोग सम्बन्ध अनित्य है। एक घड़ेमें रस्सी लगाकर कुंएसे पानी खींचा गया। यहां रस्सी और घड़ेका संयोग सम्बन्ध हुआ; किन्तु घड़ेसे रस्सी निकाल लेनेपर संयोग भंग हुआ। किन्तु समवायसम्बन्ध नित्य होता है। 'नित्यसम्बन्धः समवायः।' सारांश यह कि जिस किसी संज्ञापदवाच्यमें द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व और समवायसम्बन्धत्व हो उसे पदार्थ कहते हैं। ऐसे ही पदार्थका मुख्य अंश द्रव्य है।

द्रव्यपरिज्ञान

रस, वीर्य, विपाक आदि द्रव्यके आश्रित हैं, द्रव्यमें ही रहते हैं। बिना द्रव्यके उसके रसका अथवा वीर्य या विपाकका ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिये आश्रयीके आश्रयका ज्ञान होना पहले अपेक्षित है। वही श्रेष्ठ है क्योंकि वह आश्रयभूत है। आचार्य वाग्भट कहते हैं:—

'द्रव्यमेव रसादीनां श्रेष्ठं ते हि तदाश्रयाः।'

रसवैशेषिक सूत्रमें भी भदन्त नागार्जुनने लिखा है कि रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव और कर्म इन पांचोंका आश्रयलक्षण द्रव्य ही है:—

'द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम्।'

जो जिसमें कर्म और गुणोंका आश्रय समवायिकारणसे समवेत हों अर्थात् जो गुण और क्रियाका आधार हो उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्यकी परिभाषा लिखते हुए चरक में कहा गया है:—

'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्।'

जो किसी समय किसी अवस्थामें द्रव्यसे अलग न हो, जिसका नित्य सम्बन्ध हो उसे समवाय कहते हैं। द्रव्यमें गुण और कर्म समवायकारण रूपसे विद्यमान रहते हैं। कोई भी द्रव्य हो उसमें गुण रहेंगे, जब गुण रहेंगे तब उसके द्वारा कुछ क्रियाकर्म होगा ही। इस प्रकार गुण और कर्म द्रव्यके नित्य सम्बन्धी हैं। यह

समवायकारण ही द्रव्यमें कार्यशक्ति उत्पन्न करनेवाला है। संयोग-विभागका कारण, चलनात्मक आदि कर्म तथा रूपादि गुण द्रव्यमें नित्य सम्बन्धसे आश्रित रहते हैं। द्रव्यमें आश्रित होकर ही औषध और अन्नादि द्रव्योंका कार्य होता है। समवायिकारणके कारण ही कार्य सम्पन्न होता है। न तो समवायिकारण कार्यसे भिन्न रह सकता और न कार्य ही समवायकारणसे अलग रह सकता है।

कारण द्रव्य और कार्य द्रव्य

कर्म और गुणके समवायकारणसें जो द्रव्य की सिद्धि होती है वह कारण द्रव्य कहलाता है किन्तु ओषधि और आहारमें प्रयुक्त होनेवाले द्रव्योंको कार्य द्रव्य कहा जाता है। कारण द्रव्यमें पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) तथा आत्मा, मन, काल और दिक् इन ९ का ग्रहण होता है। अर्थात् ये कारण द्रव्य हैं। किन्तु औषधके काममें आनेवाला आंवला, हर्रा, बहेड़ा, गुडूची आदि द्रव्य और आहारके काममें आनेवाले गेहूं, चावल, अरहर आदि द्रव्य कार्य द्रव्य कहे जाते हैं। कार्य द्रव्योंकी उत्पत्ति पञ्चभूतात्मक होती है। अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश भूतोंके द्वारा होती है।

द्रव्य-संगठन

सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे। (च० सू० अ० २६)

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांचों महाभूतोंके समुदायसे समस्त कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति या सिद्धि होती है। इसको स्पष्ट करते हुए अष्टाङ्गहृदयमें कहा गया है:—

पञ्चभूतात्मकं तत्तु क्ष्मामधिष्ठाय जायते।
अम्बुयोन्यग्निपवननभसां समवायतः।
तन्निर्वृत्तिविशेषश्च व्यपदेशस्तु भूयसा।

अर्थात् औषधान्न उपयोगी द्रव्य पंचभूतात्मक होते हैं। उनकी उत्पत्ति और संगठनमें पृथ्वीका अधिष्ठान आश्रय या आधार रहता है। अर्थात् पृथ्वीतत्त्वके आधारसे उनकी रचना होती है। ऐसे कार्यद्रव्योंकी योनि या कारण जल है। योनि उत्पत्तिस्थानको कहते हैं। पृथ्वीतत्त्वके स्थूल परमाणुओंको गठित कर जल द्रव्य की उत्पत्ति का कारण बनता है। मिलाने, जोड़ने और संगठित करनेका काम जलतत्त्वके द्वारा ही होता है। केवल पृथ्वीतत्त्वसे स्थूलरूप और जलतत्त्वसे संगठितरूप होनेसे ही काम नहीं बनता, द्रव्यकी पूर्ण सिद्धि या उत्पत्तिमें अग्नि, वायु, आकाशतत्त्व भी समवायरूपसे कारणीभूत होते हैं। इनके योगसे उसकी स्वरूपपूर्णता होती है। पाकक्रिया द्वारा अंकुर उत्पन्न करना, रूप, रंग आदि की उत्पत्ति करना अग्नितत्त्व के द्वारा होता है। वायुके द्वारा पदार्थमें खरखरापन आदि स्पर्शभेद, काठिन्य और

अवयवविभाग और वृद्धि होती है। आकाशके द्वारा खोलस, नस, पोलापन, सच्छिद्रता आदिकी अवस्था बनती है। यह समवायसम्बन्ध अविच्छिन्न होता है। जब तक द्रव्य है तब तक वह उसमें विद्यमान रहता है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्यमें पांचों महाभूत रहते हैं तथापि जिस द्रव्यमें जिस तत्व या महाभूतकी अधिकता होती है वह उसी तत्वके नामसे कहा जाता है। यदि पृथ्वीतत्वकी प्रधानता हुई तो वैसे द्रव्य पार्थिव कहे जायेंगे। यदि तरलता हो, जलतत्वकी उसमें अधिकता हो तो उसे आप्य या जलतत्ववाला कहा जायगा। यदि तेज और उष्णताकी अधिकतावाला अग्नितत्व प्रधान द्रव्य हो तो आग्नेय कहा जायगा। यदि किसी द्रव्यमें हल्कापन, गमनशीलता कर्कशता आदि वायुके गुण अधिक हों तो उसे वायव्य कहेंगे। यदि उसके परमाणु दूर दूर हों—उसमें खोखलापन अधिक हो तो उसे नाभस या आकाशीय द्रव्य कहेंगे। इसप्रकार उत्कर्ष और अभिव्यञ्जक लक्षणोंसे उसकी पहचान होती है। यही नहीं सत्व-रज और तम गुणोंका भी द्रव्य-में मिलान रहता है।

द्रव्योंके पंचभूतात्मक वर्ग

पंचभूतात्मक संगठनकी भिन्नता और विचित्रताके कारण संसारमें अनेक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। यों उनका जानना, समझना, पहचानना, गुणधर्मभेदका वर्गीकरण करना सहज नहीं है। परन्तु समान आकृति, गुण और कर्मभेद के विचारसे उनके वर्गोंकी कल्पना की जाती है। सांसारिक द्रव्योंके मुख्य दो भेद शास्त्रकारोंने किये हैं। १ चेतन और अचेतन। जिनमें उत्पन्न होने, बढ़ने, आहार-ग्रहण करने आदिकी चेतनक्रिया होती है वे चेतन द्रव्य कहलाते हैं। चेतन द्रव्योंमें इन्द्रियां होती हैं। चैतन्यबोधक आत्माका निवास रहता है। इसीलिये जीवधारी कहलाते हैं। चेतन द्रव्य सजीव शरीरधारी होते हैं। चेतनके भी दो भेद हैं एक सजीव प्राणी और दूसरा उद्भिज—लता, वनस्पति, गुल्म, वृक्ष आदि। उद्भिज्ज चेतन पृथ्वीसे अपना आहार आकर्षण करते हैं, शरीर की वृद्धि करते हैं, पत्ते, डाली, तने आदि बढ़ाते हैं, फूलते हैं और फलते हैं। सुख-दुःखका अनुभव भी करते हैं; किन्तु स्वेच्छासे चल-फिर नहीं सकते। अचेतन द्रव्योंमें चेतनाका अभाव रहता है, मिट्टी, पत्थर, कंकड़ आदि की इसमें गणना होती है।

पंचभौतिक दृष्टिसे द्रव्यके पांच भेद हो सकते हैं। १ पार्थिवद्रव्य, २ द्रवद्रव्य, ३ आग्नेयद्रव्य, ४ वायव्यद्रव्य और ५ नाभस या आकाशीयद्रव्य। जिन द्रव्योंमें गुरुता, खरखरापन, कठिनता, क्रियामन्दता, स्थिरता, विसद, सान्द्र (गाढ़ापन), स्थूलता और गन्ध गुणकी अधिकता होती है वे पार्थिव द्रव्य कहलाते हैं। ऐसे द्रव्योंमें प्रायः मधुर और कषाय रसकी प्रधानता रहती है। ऐसे द्रव्य शरीरमें स्थूलता, कठिनता, भारीपन, दृढ़ता, बलवृद्धि करनेवाले होते हैं। भारी होनेसे

नीचे काम न करनेवाले अधोगामी होते हैं। जो द्रव्य पतले (द्रव), स्निग्ध—चिकने, शीत, मन्द क्रियावाले, स्पर्शमें कोमल-मृदु, लिबलिबे-पिच्छिल, स्तिमित-गीले, भारी, सर-अनुलोमन करनेवाले और सान्द्र या गाढ़ा करने जोड़ने वाले होते हैं वे जलीय या आप्य कहलाते हैं। ऐसे द्रव्योंमें प्रायः कषाय, अम्ल, लवण और मधुर रसकी प्रधानता रहती है। इनके उपयोगसे शरीरमें उपक्लेद्-गीलापन, चिकनापन, गठन, मृदुता और तृप्ति या प्रसन्नता उत्पन्न होती है। स्रोतसोंसे द्रव बहता है। जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म (स्रोतसोंमें प्रवेश करने वाले), लघु, रूक्ष, विसद और रूप या चमक-दमकवाले होते हैं और जिनमें अम्ल लवण और कटु रसकी अधिकता होती है तथा जो ऊर्ध्वगामी होते हैं उन्हें आग्नेय या तैजस कहते हैं। इनके सेवनसे शरीरमें दाह-जलन होती है। ऐसे द्रव्य भोजनका परिपाक जल्दी करते हैं द्रव्योंको सड़ाते-गलाते और पचाते हैं। वर्ण—प्रकाश और कान्तिको बढ़ाते हैं, दारण करते हैं। तोड़ते-फोड़ते और तपाते हैं। जो द्रव्य लघु, शीत, रूक्ष, खर, विसद और सूक्ष्म गुणवाले होते हैं, जिनमें स्पर्श गुणकी अधिकता होती, जिनमें व्यवायी और विकासी गुण होते हैं, जिनमें तिक्त या कषाय रसकी विशेषता होती है वे द्रव्य वायव्य वायुगुणवाले होते हैं। ऐसे द्रव्योंका उपयोग करनेसे शरीरमें रूक्षता, ग्लानि, मनमें अनेक प्रकार के विचार-विकल्पना उत्पन्न होती है। शरीरमें स्वच्छता-विशदता और हल्कापन आता है। शरीरका कर्षण होता है, दुबलापन आता है। जो द्रव्य मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण (चिकने) और शब्दगुणविशिष्ट होते हैं तथा जो विसद, व्यवायी और विविक्त (पोले अलग-अलग) गुणवाले होते हैं, जिनमें कोई रस व्यक्त नहीं रहता वे नाभस या आकाशीय वर्गके होते हैं। ऐसे द्रव्योंका उपयोग करनेसे शरीरमें मृदुता आती है, शरीर हल्का और पोला (सुषिरता) होता है।

पञ्चमहाभूतपरिज्ञान

द्रव्योंकी उत्पत्ति

यह पहले कहा जा चुका है कि रसकी उपलब्धि और अनुभूति बिना द्रव्यके नहीं हो सकती। कोई कहे कि बिना चीनी खिलाये चीनीके मिठासका अनुभव करा दे, बिना नींबू खिलाये नींबूके खट्टेपनका जायका बतला दे तो यह नहीं हो सकेगा; इसीलिये पहले द्रव्यका वर्णन कर दिया गया है।

रसोंका अधिष्ठान द्रव्य है और द्रव्य पञ्चमहाभूतोंके (आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी) संयोगसे बनते हैं। संसारके यावत् स्थावर-जंगम पदार्थ हैं, सभी पञ्चमहाभूतोंके समवायिकारण—नित्यसंयोगसे उत्पन्न होते हैं और उनका आधार पृथ्वी होती है। तथा विशेष आकार अर्थात् योनि, जल माना जाता है।

जिस पदार्थमें जिस महाभूतकी अधिकता होती है, वह पदार्थ उसी विशिष्ट महाभूतवाला कहा जाता है। इनमेंसे अक्षर अर्थात् शून्यसे आकाशकी उत्पत्ति हुई है। लिखा है:—

अक्षरात् खं ततो वायुस्तस्मात्तेजस्ततो जलम्।
उदकात् पृथिवी जाता भूतानामेष सम्भवः॥

अर्थात् अक्षर शून्यसे आकाशकी, आकाशसे वायुकी, वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। यहां इन पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टिका क्रम है। कोई कहे कि जो शून्य है वह द्रव्य नहीं हो सकता तो उसका समाधान यह है कि इस शून्यताका इतना ही अर्थ है कि उसे हम अतिसूक्ष्म होनेके कारण देख नहीं सकते, इसीसे शून्य कहते हैं। ये आकाशादि भी स्वयं द्रव्य हैं और एक दूसरेके सहारेसे स्वयं उत्पन्न होते हैं। जो स्वयं द्रव्य नहीं होगा वह दूसरेको उत्पन्न नहीं कर सकेगा। जो द्रव्य है वह पञ्चभूतात्मक है। व्यवहारमें कहा जाता है कि मरुदेशका वायु हलका और अनूपदेशका भारी होता है। जो द्रव्य नहीं है, उसमें वजन नहीं हो सकता। इसी तरह सफेद आकाश, नीला आकाश आदि कहनेकी परिपाटी है, रंग उसी में होगा जो द्रव्य होगा। प्रत्येक द्रव्यके कारण पञ्चमहाभूत, और कार्य, स्वयं वह द्रव्य है। द्रव्यमें पञ्चमहाभूतोंका मेल अलग अलग मालूम नहीं पड़ सकता; परन्तु गुणोंके द्वारा उनका अनुभव किया जा सकता है। यद्यपि हम आकाशको न तो देख सकते और न स्पर्शकर सकते, तथापि सूक्ष्म और अव्यक्त तन्मात्र स्थूलभूतमें प्रवेशकर सकते हैं। महाभूतोंके अव्यक्त सूक्ष्मरूपोंको तन्मात्रा कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये इन महाभूतोंके अर्थ या विषय हैं। आकाश का अर्थ या विषय या गुण शब्द, वायु का स्पर्श, अग्निका रूप, जलका रस और पृथ्वी का अर्थ या विषय या गुण गन्ध है। पञ्चभूतोंकी उत्पत्तिके समय उनमें अपना गुण विशेषरूपसे रहता है और उसके पहलेके महाभूतोंके गुण भी अनुप्रवेशसे प्रविष्ट होते हैं। इसलिये शब्द तन्मात्रसे आकाशकी उत्पत्ति होती है अर्थात् आकाशका अर्थ शब्द है और स्पर्श उसका अव्यक्त गुण है। आकाशसे वायुकी उत्पत्ति होती है। सृष्टि पदार्थोंकी उत्पत्तिका यह नियम है कि पूर्वभूतगुण उत्तरभूतमें अनुप्रवेश करते हैं। इसलिये वायुमें आकाशका शब्द गुण वर्तमान रहता है। परन्तु वायुका अर्थ स्पर्श है, इसलिये शब्द और स्पर्श तन्मात्रसे वायुकी सिद्धि हुई। अर्थात् आकाशका गुण शब्द तो वायुमें आया ही; किन्तु आकाशमें जो स्पर्श गुण अव्यक्त रूपमें था वह भी वायुमें व्यक्त हो गया। न्यायके तृतीय अध्यायका प्रथम श्लोक है 'विष्टह्यपरं परेण' अर्थात् पूर्वभूत (पहलेके महाभूत) परभूतमें (आगेके भूतमें) अनुप्रविष्ट होते हैं। इसीलिये आकाशका गुण शब्द वायुमें, वायुका शब्द-स्पर्श गुण तेजमें, तेजके शब्द, स्पर्श-रूप गुण जलमें, जलके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गुण पृथ्वीमें

अनुप्रविष्ट होते हैं। इसलिये पृथ्वीमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध पांचोंगुण विद्यमान रहते हैं। महर्षिचरक कहते हैं:—

महाभूतानि खं वायुरग्निरापक्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्व गुणाश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥

अर्थात् आकाशका गुण शब्द, वायुका स्पर्श, अग्निका रूप, जलका रस और पृथ्वीका गुण गन्ध है; परन्तु प्रथम महाभूतके गुण अगले महाभूतमें अनुप्रवेशकर क्रमशः उनके गुणोंकी वृद्धि करते जाते हैं। इसी न्यायसे आकाशका शब्दगुण वायुमें आगया और उसका अव्यक्त गुण स्पर्श, वायुमें व्यक्त होगया। यह सन्देह किया जासकता है कि आकाशमें तो स्पर्श गुण देखा नहीं जाता फिर कैसे समझा जाय कि यह गुण परम्परासे आया। इस कारण परम्पराको ठीक करनेके लिये कहा जाता है कि कारणगुणपूर्वक कार्य तो दृष्टगत होता ही है; किन्तु अकारणगुणपूर्वक कार्य भी देखा जाता है। जैसे सफेद सूत या सनका बना कपड़ा भी सफेदही होता है, यह कारणगुणपूर्वक कार्यका उदाहरण हुआ, अकारणगुणपूर्वक कार्यके उदाहरणमें कहा जाता है कि जैसे हल्दीमें चूना या अन्य किसी क्षारके संयोगसे हल्दीका अव्यक्त लालरंग व्यक्त हो जाता है, इसी तरह दो पदार्थों के दो गुणोंके संयोगसे रसायनसंयोग होकर अकारणगुणपूर्वक कार्यकी उपलब्धि हो जाया करती है। इसी तरह आकाशका अव्यक्त स्पर्शगुण उस आकाशके संयोगसे उत्पन्न वायुमें व्यक्त हो गया; और वायु स्पर्शवान अर्थात् स्पर्शसे अनुभवमें आने योग्य हो गया। इससे आगे चलकर शब्द-स्पर्श और रूपतन्मात्रसे अग्निकी उत्पत्ति हुई। अर्थात् आकाश और वायुके गुणोंसे अग्नि हुआ और वायुमें जो स्पर्शगुण तो व्यक्त था; किन्तु स्पर्शके बाद जो रूपकी प्राप्ति होनी चाहिये—स्पर्शसे ज्ञान होनेपर रूपकी इच्छा होती है—वह वायुका अव्यक्त गुण रूप अग्निमें व्यक्त हो गया। अतएव अग्निका मुख्य गुण या अर्थ रूप हुआ। फिर आगे अग्निसे जलकी उत्पत्ति हुई। अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस—तन्मात्रसे जलकी उपलब्धि हुई। जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई। अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्रसे पृथ्वीकी उपलब्धि हुई। अग्निका अव्यक्तगुण रस जलमें और जलका अव्यक्त गुण गन्ध पृथ्वीमें व्यक्त हो गया।

महाभूतोंकी पहचान

यह पहले कहा जा चुका है कि कोई द्रव्य किसी एकही तत्वसे नहीं बन सकता किन्तु द्रव्य की उत्पत्ति होनेके लिये यह आवश्यक है कि सभी तत्वोंकी कम अधिक

मिलावट हो। इसीलिये कहा है कि द्रव्यकी उत्पत्तिमें पृथ्वी उसका अधिष्ठान होती है 'क्षमाधिष्ठान जायते' और जल उसकी योनि उत्पत्ति—कारण रूपसे रहता है, तथा अग्नि, वायु और आकाश उसके समवायिकारण साथ होते हैं। अविच्छिन्न रूपसे उसकी घटनामें संमिलित रहते हैं। किन्तु जिस द्रव्यमें जिस तत्वकी अधिकता होती है, वह उसीके नामसे पुकारा जाता है:—

अम्बुयोन्यग्निपवननभसां समवायतः।
तन्निर्वृत्तिविशेषश्च व्यपदेशस्तु भूयसा॥

अतएव जिन द्रव्योंमें पृथ्वीके गुण भारीपन आदि पाये जायँ, वे पृथ्वी तत्ववाले, जिन द्रव्योंमें जलके पतलेपन आदि गुण पाये जायँ वे जलवाले, जिनमें तेज–कान्ति और चमक हो वे अग्नितत्ववाले, जिनमें हलकापन खरखरापन हो वे वायु तत्ववाले माने जाते हैं। जिनमें पोलापन पाया जाय वे आकाशतत्ववाले माने जाते हैं। इसलिये पञ्चमहाभूतोंकी पहचानकी सुविधाके लिये उनके गुणोंका लिख देना आवश्यक है।

पार्थिव द्रव्योंकी पहचान

आचार्य वाग्भट कहते हैं:—

तत्र द्रव्यं गुरुस्थूलं स्थिरगन्धगुणोल्बणम्।
पार्थिवं गौरवस्थैर्य संघातोपचयावहम्॥

पृथ्वी भारी, स्थूल, स्थिर, खर, कठिन, मन्द, विशद, सान्द्र गुणोंसे युक्त गन्धवाली है। सुश्रुतके मतमें पृथ्वीमें मधुर रसकी प्रधानता होती है और कुछ कषाय रस भी रहता है। अतएव पृथ्वीतत्ववाले पदार्थ उक्त गुणोंसे युक्त होते हैं। इसलिये पार्थिवपदार्थ स्थिरता करनेवाले, एकत्र संश्लेषक अर्थात् एकमें संघट्टनरूपसे मिलनेवाले और बल, पुष्टि, बुद्धि तथा मेधा उत्पन्न करनेवाले होते हैं। विशेषकर पार्थिव पदार्थ अधोगामी होते हैं। अर्थात् वायुका विलोम करनेवाले और मलको निकालनेवाले होते हैं।

जलीय द्रव्योंकी पहचान

जलतत्ववाले द्रव्य गुणमें द्रव अर्थात् पतले होते हैं, स्निग्ध अर्थात् चिकने होते हैं, शीत अर्थात् ठण्डे होते हैं, मन्द अर्थात् धीरे क्रिया करनेवाले, सर अर्थात् दोषोंको चलानेवाले, सरकनेवाले, सान्द्र गाढ़ा करनेवाले, मृदु, पिच्छिल, स्तमित (कपकपी या रोमाञ्चकरने वाले) और रसवाले होते हैं। इनमें मधुर रसकी विशेषता होती है, कुछ कषाय, अम्ल और लवण रसका अनुभव होता है। इसलिये जलीयपदार्थ कर्ममें उपक्लेदकारी अर्थात् पिचपिचा और गीला करनेवाले होते हैं, बन्ध अर्थात् बांधनेवाले होते हैं, विष्यन्दी अर्थात् दोषोंको पतला कर चलानेवाले

होते हैं। इनके सेवनसे शरीरमें स्निग्धता आती है, प्रसन्नता होती है। आचार्य वाग्भट कहते हैं:—

द्रवशीतगुरुस्निग्धमन्दसान्द्ररसोल्वणम्।
आप्यं स्नेहनविष्यन्दक्लेदप्रल्हादबन्धकृत्॥

आग्नेय द्रव्योंकी पहचान

आग्नेय—अर्थात् अग्नितत्त्ववाले द्रव्य गुणमें उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म (अर्थात् स्रोतसोंमें प्रवेश करनेवाले), लघु, रूक्ष, खर, विशद (पिच्छिलके विपरीत) और रूपगुणकी अधिकतावाले होते हैं। आग्नेय पदार्थ विशेष कर कटु रसवाले होते हैं; किन्तु किंचित् अम्ल और लवण-रसविशिष्ट भी होते हैं। अग्नि तत्त्ववाले पदार्थ ऊर्ध्वगमनकारी अर्थात् ऊपरको उठनेवाले—वमनकारी होते हैं। इन गुणोंके कारण अग्नितत्त्ववाले द्रव्योंमें दाह अर्थात् जलन, पाक अर्थात् पकाने और पचाने, दारण अर्थात् फोड़ने, तापन अर्थात् गरम करने और पचाने, प्रभा अर्थात् तेज, प्रकाश (खिला देने) और वर्ण अर्थात् रंगत बढ़ानेका काम करनेकी शक्ति होती है। वाग्भट कहते हैं:—

रूक्षतीक्ष्णोष्णविशदसूक्ष्मरूपगुणोल्वणम्।
आग्नेयं दाहभावर्णप्रकाशपचनात्मकम्॥

वायु तत्त्ववाले पदार्थोंकी पहचान

वायव्य—अर्थात् वायुतत्त्ववाले द्रव्य लघु अर्थात् हलके, शीत, रूक्ष, तीक्ष्ण, खर, विशद, सूक्ष्म और स्पर्श गुणकी अधिकतावाले होते हैं। इनमें कषाय रसकी विशेषता होती है और कुछ तिक्तरस भी रहता है। इसलिये वायुतत्त्वाले द्रव्य अपने कार्य प्रभावसे रूक्षताको बढ़ाते हैं, लाघवता लाते अर्थात् हलका करते हैं, मानसिक विचारों और संकल्प-विकल्पोंको बढ़ाते हैं, सञ्चालन अर्थात् गति उत्पन्न करते हैं, दोषोंको सुखाते हैं, अर्थात् शोषण करते हैं। और निर्मलता बढ़ाते हैं; किन्तु ग्लानि उत्पन्न करते हैं। वाग्भट कहते हैं:—

वायव्यं रूक्षविशदं लघुस्पर्शगुणोल्वणम्।
रौक्ष्यलाघववैशद्यविचारग्लानिकारकम्॥

आकाशीय पदार्थोंकी पहचान

आकाशतत्त्ववाले द्रव्य गुणोंमें मृदु अर्थात् कोमल, लघु, सूक्ष्म और श्लक्ष्ण (लिबलिबे—खरके विपरीत) होते हैं। ऐसे पदार्थ शरीरमें प्रविष्ट होते ही सहसा

सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त हो जाते हैं। तब कहीं जाकर उनका परिपाक होता है। जो द्रव्य अनायास टूटफूट जाते, विभक्त हो जाते हैं और जिनका रस अव्यक्त रहता तथा जिनमें शब्द गुणकी अधिकता होती है उन्हें ही आकाशीय द्रव्य कहा जाता है। अपने कर्मप्रभावसे आकाशीय द्रव्य शरीरमें हलकापन लाते हैं, कोमलता बढ़ाते हैं और पोलापन उत्पन्न करते हैं, छेद कर देते हैं। आचार्य वाग्भट कहते हैं:—

नाभसं सूक्ष्मविशदलघुशब्दगुणोल्वणम् ।
सौषिर्यं लाघवकरं, (जगत्येवमनौषधम्) ॥

महाभूतोंके अंश

सृष्टिके सम्पूर्ण द्रव्य पञ्चमहाभूतोंसे ही बनते हैं इसलिये हमारा शरीर भी उन्हींसे बना है। शरीरके कौन कौन पदार्थ और क्रिया किस महाभूतके अंशीभूत हैं यह बतलाते हैं। नीचेके कोष्ठकमें देखिये।

पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश
अस्थि	लार	क्षुधा	चलन	काम
मांस	मूत्र	तृषा	झुकाव	क्रोध
त्वचा	मज्जा	आलस्य	प्रसारण	शोक
नाड़ी	रेत	निद्रा	आकुंचन	मोह
रोम	शुक्र	मैथुन	निरोधन	भय

एक दूसरे कोष्ठक द्वारा यह भी दिखला देना उचित समझते हैं कि इन महाभूतोंके द्वारा शारीरिक इन्द्रियोंकी उत्पत्ति, पञ्चप्राण और पञ्चविषय किस क्रमसे सिद्ध होते हैं।

पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश
श्रोत्र	वाचा	शब्द	प्राण	अन्तःकरण
त्वचा	हाथ	स्पर्श	उदान	मन
चक्षु	पांव	रूप	व्यान	बुद्धि
जिह्वा	उपस्थ	रस	समान	चित्त
घ्राण	गुदा	गन्ध	अपान	अहंकार

सभी द्रव्य औषध हैं

ऊपरके वर्णनसे मालूम पड़ता है कि संसारके सभी पदार्थ पञ्चमहाभूतोंके संयोगसे बनते हैं और उनमें कुछ महाभूतोंकी अधिकता रहती है और कुछका कम विकास हो पाता है। जिस द्रव्यमें जिस तत्वकी अधिकता होगी उसमें उस तत्व के गुण, कर्म, रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव भी अवश्य पाये जावेंगे। यह हो सकता है कि इनमेंसे किसीका विकास उस पदार्थमें हो और किसीका उतना न हो, तथापि यह तो निश्चय है कि हर एक द्रव्यमें कुछ कुछ रस, गुण, वीर्य और कार्य-शक्ति रहती अवश्य है और जब हरएक द्रव्यमें कुछ शक्ति रहती है तब उसके सेवनसे शरीरमें उसका कुछ असर भी होना ही चाहिये। जब द्रव्यके सेवनका असर शरीरमें हुआ तब यह बनी बात है कि शारीरिक वात-पित्त-कफ आदि दोषोंमेंसे किसीके उभाड़ने अथवा किसीके शान्त करने अथवा ठीक या समान स्थितिमें रखनेकी क्रिया भी उनसे होती ही होगी। जब इतना है तब यह बनी बात है कि प्रत्येक पदार्थका उपयोग ओषधिके रूपमें किसी न किसी प्रयोजनसे किया ही जा सकता है। अतएव यह सिद्ध होता है कि संसारमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो ओषधिके काम न आ सके। कोई भी पदार्थ संसारमें अनौषधि नहीं—निरुपयोगी नहीं। इसीको लक्ष्यकर वाग्भटाचार्यने कहा है:—

········जगत्येवमनौषधम्—

न किञ्चिद्विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थयोगयोः।

यह अवश्य है कि पृथ्वी आदि तत्वोंवाले पदार्थ सदैव और सभी रोगों पर एक समान उपयोगी नहीं हो सकते। बल्कि विशिष्ट द्रव्य, विशिष्ट उपायसे, विशिष्ट प्रयोजनमें उपयोगी हो सकते हैं। प्रत्येक द्रव्यमें ओषधिका गुणप्रभाव अवश्य है, परन्तु उनके उपयोग की युक्ति होनी चाहिये। चिकित्सकको द्रव्यगुण समझकर वमन-विरेचन-लंघन-बृंहण-दोषशमन आदिके लिये उनके क्वाथ, चूर्ण, वटी, आसव, अरिष्ट, प्रलेप, सेक, जहां जिससे जिस उद्देश्य की सिद्धि हो, तहां उस प्रकार योग कल्पना करनी चाहिये। कोई द्रव्य कभी द्रव्यप्रभावसे, कभी गुण-प्रभावसे, कभी रसयोगसे, कहीं वीर्यकी शक्तिसे, कहीं विपाकके जोर पर और कहीं इन सबोंसे ऊपर साधारणतः समझमें न आसकने योग्य अपने प्रभावसे वमन-विरेचन-लंघन-बृंहण की जो क्रिया होती है वह कर्म कहलाती है। यह सन्देह किया जा सकता है कि वैरोधिक पदार्थ अर्थात् शरीरके पालन और अभिवृद्धिके लिये जो द्रव्य विरुद्ध शक्तिवाले हैं वे भी तो सदैव ही अवश्य होते हैं। वे भी तो शरीरमें अपना अपथ्यकर हानिकारी प्रभाव कर सकते हैं अतएव सभी द्रव्य औषध हैं, अनौषधि कोई नहीं है इस सिद्धान्तमें बाधा पड़ती है। जब संसारके सभी

पदार्थ औषधिके लिये उपयोगी हैं। तब वैशेषिक द्रव्योंका हानिकारी और अपथ्यकर प्रभाव की संगति कैसे लगेगी ? परन्तु यह सन्देह ठीक नहीं है क्योंकि विरोधी पदार्थोंका वैशेधिकत्व रचना सिद्ध नहीं होती, उसके लिये संयोग, संस्कार और देशकालादि की अपेक्षा रहती है। विरोधी संयोगके अभावमें अथवा रोगविशेषमें युक्तिविशेषसे वे भी पथ्यकारक हो सकते हैं। क्योंकि विषमन्दक आदि पदार्थ यद्यपि स्वभावतः अपथ्य होते हैं तथापि योग्य उपायसे लेने पर वे पथ्यकारक होते हैं। जैसे रसचिकित्सा और साम्यचिकित्सामें (होमियोपैथी) विषोंका प्रायः उपयोग होता है; परन्तु उनसे उत्तम फलकी सिद्धि हुआ करती है। प्रमाण भी है 'उदरे विषस्य तिलं दद्यात्' विषके पेटमें जानेसे तिल खिलाना चाहिये। तिल स्वयं अवरोधी पदार्थ है तो भी वह विषको बढ़ानेके बदले घटता है। घास, बालू आदि पदार्थ यद्यपि खानेमें उपयोगी नहीं हैं तथापि चिकित्सार्थ स्वेदनादि क्रियामें उनका उपयोग होता ही है। इसलिये यह सिद्धान्त पक्का हुआ कि संसारका कोई भी पदार्थ औषधिकी दृष्टिसे निरुपयोगी नहीं है।

आवश्यकता होने पर विष भी ओषधिके काम आता है। मल-मूत्र आदि यद्यपि त्याज्य समझे जानेवाले द्रव्य हैं तथापि गोबरका रस, गौमूत्रादिका उपयोग होता ही है। दन्ती द्रव्य प्रभावसे विरेचन लाती है। गोदुग्धमें सोनेका कड़ा या सोनेका वर्क पकाकर उस दूधको पीनेसे उसमें वाजीकरणकी शक्ति आती है। ज्वरमें तिक्तरस उपयोगी होता है। शीतमें अग्निसे तपानेसे शीत दूर होता है। नकछिकनी या तमाखू सूंघनेसे द्रव्यकर्म प्रभावसे छींकें आती हैं। द्रव्यके गुणके द्वारा जो क्रिया सम्पन्न होती है उसे वीर्य कहते हैं और द्रव्यकी शक्तिसे जो कर्म होता है वह प्रभाव है।

द्रव्योंकी कार्यविधि

यह अवश्य है कि द्रव्य जो रोगशान्तिका कार्य करते हैं वह केवल अपने गुरु-लघु-शीत-उष्ण आदि गुणोंके योगसे नहीं करते, बल्कि वे अपने द्रव्यत्व प्रभावसे और द्रव्य तथा गुण दोनोंके संयुक्त प्रभावसे कार्य करते हैं। जैसे दन्तीमूलसे रेचन होता है और मणियोंके धारणसे विषादिकोंका प्रभाव हरण होता है, इसे द्रव्य प्रभाव कहते हैं। इसी तरह कटु रससे ज्वरकी शान्ति होती है और अग्निकी उष्णतासे शीतका नाश होता है, यह पदार्थोंका गुणप्रभाव है। इसीतरह काले मृगका चर्म शरीरमें उष्णता बढ़ाने और विद्युत्-शक्ति दौड़ानेमें सहायक होता है। यहां उसका कालापन गुण है और चर्म द्रव्य है; अतएव द्रव्य और गुणके संयुक्त प्रभावसे यह क्रियाकलाप होता है।

काल—ओषधियां सेवनके पश्चात् जिस समयमें (दिन, मास—वसन्त आदि

ऋतु अथवा रोगकी अवस्थाका समय) अपने कार्यका प्रकाश करती हैं, उसे कला कहते हैं। जसे वर्षा ऋतुमें वस्ति देना, वसन्त ऋतुमें वमन की ओषधि देना, शरद् ऋतुमें विरेचन देना, शीत ऋतुमें वृष्ययोग देना, उष्ण ऋतुमें स्नेहन देना। नित्य तेल लगाना, सप्ताहमें एकबार नेत्रोंसे आंसू निकालनेके लिये रसांजन देना, शिरके भारी होने पर नस्य देना आदि।

कर्म—ओषधि द्रव्य जिस जिस समयमें जिस जिस स्थानमें, जिस जिस योजनाके द्वारा जिस जिस प्रयोगसे, जिस जिस रोगमें जो कार्य करते हैं उसे कर्म अथवा चिकित्साकर्म कहते हैं। जैसे शिरोविरेचन वाले द्रव्य नस्य लेने पर जो छींकके द्वारा अथवा अन्य योगसे बलगम निकालकर शिरोविरेचनका कार्य करते हैं वह शिरोविरेचन कर्म है।

वीर्य—ओषधि द्रव्य अपने जिस शीत, उष्ण आदि गुणके द्वारा कार्य करते हैं वह द्रव्योंका गुणवीर्य कहलाता है। शिरोविरेचनीय द्रव्य अपने उष्ण गुणके कारण विरेचन कार्य करते हैं। वृष्य पदार्थ अपने शीत-स्निग्ध गुणके कारण हृष्टपुष्ट करते हैं इत्यादि। सारांश द्रव्यके गुणके सामर्थ्य अथवा शक्तिको वीर्य कहते हैं।

अधिकरण—ओषधिद्रव्य जिस देश, भूमि, पात्र अथवा देहके भागमें या स्थानमें अपने कार्यका सामर्थ्य दिखलाते हैं उसे उसका अधिकरण कहते हैं। जैसे शिरोविरेचनका अधिकरण मस्तक, वमनका अधिकरण आमाशय या फुफ्फुस, विरेचनका अधिकरण आंतें हैं।

उपाय—ओषधि द्रव्य जिस रीति या विधानसे (स्वरस, कल्क, कषायादि प्रकार) दिये जाते हैं उसे उपाय कहते हैं। जैसे शिरोविरेचन देना हो तो सिरसबीज या जिस योगको देना है उसे चूर्ण कर, रोगी को बिछौने पर उताने सुलाकर, जरा गर्दन नीचे लटकाकर, आंखें बन्द कराकर रेंड़ीके पत्तेकी डंठली या अन्य सछिद्र फुंकनीसे उसे नाकमें फूंक देना या ओषधिद्रव्यका रस निचोड़ देना, शिरोविरेचनका जो विधान है वही उपाय है।

फल—ओषधियोजनाके कार्यसे अन्तमें जिस उद्देशकी सिद्धि हो उसे उसका फल या उद्देश कहते हैं। जैसे शिरोविरेचन देनेसे मस्तकका भारीपन दूर हुआ वही आरोग्यतारूप ओषधिदानका फल है।

योजना—रोगप्रशमनके लिये अर्थात् चिकित्साकर्मकी सिद्धिके लिये जो चूर्ण वटी, अवलेह, आसवका युक्तिपूर्वक जो विनियोग किया जाता है और वह युक्तितथा युक्ति ओषधि वीर्य या गुण से कर्मकारी और फलप्रद होती है, उसे योजना कहते हैं।

द्रव्यधर्म—विरेचन (दस्त लानेवाले) पदार्थमें पार्थिव और जलीय तत्व अधिक देखा जाता है; क्योंकि पृथ्वी और जल सारी पदार्थ सदा नीचे जानेकी इच्छा रखते हैं। इसीलिये वे अधोगामी हैं, और इस अधोगामी गुणके ही कारण उनके सेवनसे

विरेचन हो जाता है। वमन द्रव्योंमें (वान्ति लानेवाले) अग्नि और वायुतत्वके गुण सबसे अधिक रहते हैं; क्योंकि अग्नि और वायु दोनों लघु हैं। लघु पदार्थ से हलके होनेके कारण सदा ऊपर उठनेकी इच्छा रखते हैं। इसलिये ऐसे द्रव्य सेवन करनेसे वे ऊपरको उठते हैं और ऊपर रहनेवाले कफको उभाड़कर वमन कराते हैं। वमन और विरेचन दोनों प्रकारके द्रव्योंमें ऊर्ध्वगामित्व (ऊपर उठनेकी) और अधोगामित्व (नीचे जानेकी) दोनों गुण अधिकताके साथ पाये जाते हैं। इसलिये कभी कभी विरेचन द्रव्यसे कय भी होती है और कयवाले पदार्थसे कभी कभी दस्त भी होते हैं। संशमन द्रव्योंमें आकाशगुणकी प्रधानता रहती है और संग्राहक द्रव्योंमें शोषणगुण अधिक रहता है। शोषणगुण वायुका एक प्रधान धर्म है। इसलिये संग्राहक (कब्ज करनेवाले, स्रोतसोंका अवरोध करने वाले, दोषोंको रोकनेवाले) पदार्थोंमें वायुका गुणधर्म अधिक देखा जाता है। दीप्तिकर पदार्थोंमें (अग्निको उत्तेजित करनेवाले) तैजस-अग्निकी अधिकता रहती है और लेखन-कारी द्रव्योंमें (दोषोंको खरोचकर निकालनेवाले) वायु और अग्निगुणकी अधिकता रहती है। इसी तरह वृष्य (पुष्टिकारक) पदार्थोंमें पार्थिव और जलीय तत्वोंके गुणोंकी अधिकता देखी जाती है। इसी प्रकार अनुमानके द्वारा औषधोंके धर्म कार्योंका निरूपण करना चाहिये।

दोषों पर असर—भूमि, अग्नि और जलतत्वप्रधान तत्वके द्रव्योंके द्वारा वायुकी शान्ति होती है। भूमि, जल और वायुतत्वप्रधान द्रव्योंके द्वारा पित्तकी शान्ति होती है। आकाश अग्नि और वायुतत्वप्रधान द्रव्योंके द्वारा कफ की शान्ति होती है। इसी प्रकार इनके विपरीत गुणवाले पदार्थों से उन उन दोषोंका प्रकोप होता है। जैसे आकाश और वायुत्वप्रधान द्रव्योंके द्वारा वायुकी वृद्धि होती है। आग्नेय द्रव्यों द्वारा पित्तकी वृद्धि होती है। इसी तरह पार्थिव और जलीय तत्वके पदार्थोंके द्वारा श्लेष्माकी वृद्धि होती है।

त्रिधा द्रव्यभेद

इसके पहले द्रव्योंके पांच भेद पञ्चभौतिक दृष्टिसे बतलाये गये हैं। द्रव्य प्रभावके करण स्वास्थ्य पर द्रव्यों का जैसा प्रभाव पड़ता है, उस दृष्टिसे भी उनका विभाग बतलाना आवश्यक है। अतएव अब थोड़ेमें यह भी बतला देना चाहते हैं कि सृष्टिके जिन पदार्थोंमें रसादि कल्पना की जाती है अर्थात् जिनका आश्रयकर रस रहते हैं उनके मोटे भेद कौन कौन हैं। वाग्भट कहते हैं कि द्रव्योंमें जो स्वास्थ्य पर प्रभाव लानेकी औषधिसम्बन्धी शक्ति होती है वह तीन प्रकारकी है:—

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा

अर्थात् स्वास्थ्यपर प्रभाव डालनेकी दृष्टिसे द्रव्य तीन प्रकारके हैं। कुछ ऐसे

पदार्थ होते हैं जिनमें दोषोंको (वात-पित्त कफको) और रसादि धातुओंको शमन अर्थात् शान्त करनेकी शक्ति होती है । कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जो दोषोंको और धातुओंको उत्तेजित कर उभाड़ते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो न तो दोषोंको शान्त करते न उभाड़ते; किन्तु आरोग्यताको कायम रखते हैं । जैसे तेल अपने स्नेह, औदार्य और भारीपनके कारण इसके विपरीत गुणवाले रूक्ष, खर और हलकेपन वाले वायुको शान्त करता है । गुरु, उष्ण, स्निग्ध होनेपर भी वायुको प्रकुपित करती है । इन्हीं गुणोंसे युक्त उड़द, पित्त और कफको प्रकुपित करता है । इसी तरह घृत मधुर, शीत और मन्द गुणके कारण उसके विपरीत कटु, उष्ण और तीक्ष्ण गुण वाले पित्तको शान्त करता है । रसमें मधुर और वीर्यमें शीत होनेपर भी जीवन्ती कफका शमन करती है । कटु पाक रसवाला लहसुन गुरु और स्निग्ध होनेपर भी कफ-वातको शान्त करता है । शहद अपनी रूक्षता, तीक्ष्णता और कषाय, मधुर, गुणके कारण इसके विपरीत स्निग्ध, मन्द आदि गुणवाले कफको शान्त करता है । जो वातादि दोष, रसादि धातु और मूत्रादि मलोंको कुपित करते हैं वे कोपन अर्थात् उभाड़नेवाले पदार्थ कहलाते हैं । बांलका जव, उड़द, मछली, कच्ची मूली, सरसों, मांड़, दही, खोझरी और विरुद्धाहार दोषादिको कुपित करते हैं। जो पदार्थ वातादि दोष, रसादि धातु और मूत्रादि मलोंको अपने उचित परिमाणमें रख स्वस्थानुवृत्ति रूप आरोग्य कायम रखते हैं वे स्वस्थहित पदार्थ कहलाते हैं। जैसे साठी चावल, जव, गेहूं, जांगल्य जीवोंका मांस, जीवन्ती शाक, दिव्य जल, दूध तथा ओज उत्पन्न करनेवाले छुहारे आदि रसायन वाजी करण पदार्थ और ऋतुचर्याके प्रकरणमें कहे हुए सेवनीय पदार्थ । जो औषधान्न द्रव्य कुपित वात-पित्त या कफको, रस-रक्तादि धातुओंको और मल-मूत्र-स्वेदादि मलोंको अपनी शमनक्रिया द्वारा शान्तकर समावस्थामें लाते हैं वे शमन कहलाते हैं । गुरु-मधुर-रूक्ष और शीतवीर्य होनेपर भी यव स्वस्थ मनुष्यके पित्तको नहीं घटाता और गुरु-मधुर-स्निग्ध-शीतगुण विशिष्ट दूध स्वस्थ मनुष्यमें कफ का प्रकोप नहीं करता । रस-वीर्य-विपाक की समानता रहनेपर उसके विरुद्ध जो विशिष्ट गुण प्रदर्शित होता है वह प्रभावके कारण है ।

योनिभेद

गुण-क्रिया विशेषके भेदसे पदार्थोंके ये तीन भेद हुए; किन्तु योनिभेदकी दृष्टिसे भी उनके मुख्य तीन भेद हैं । अर्थात् जंगम, पार्थिव और औद्भिद ।

जंगमपदार्थ—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने फिरनेवाले सम्पूर्ण जीवधारी जंगम श्रेणीमें हैं । चिकित्सा विद्यामें जंगम पदार्थ वे भी कहलाते हैं जो जीवधारियोंके अंगीभूत अथवा उनके द्वारा उत्पन्न होते हैं । शहद, दूध, दही, घी,

मक्खन, खोवा, चर्बी, मज्जा, खटमलका रक्त, बीरबहूटी, बिल्लीका मल, गाय बछड़े का मल-मूत्र, बकरीका मल-मूत्र, चमड़ा, हरिण, बाघ इत्यादि का मांस और चर्म, हाथीके दांत, हरिण सांभर आदिके सींग, बाघके नख, घोड़ेके खुर, बकरीके रोम, लोम, मूंगा, मोती, सीप, कस्तूरी, गोरोचन आदि जंगम पदार्थ ओषधिके काम आते हैं।

जंगम जीवोंके जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज चार भेद हैं। जो खेढ़ीसे बन्द पैदा होते हैं वे जरायुज—मनुष्य, बन्दर, घोड़े, गाय आदि। जो अण्डेसे पैदा होते हैं वे अण्डज—मछली, पक्षी सांप आदि। जो स्वेद या पसीनेसे उत्पन्न होते हैं; जैसे खटमल, जुआं, लीख आदि वे स्वेदज और जो यों ही भूमिसे पैदा हो जाते हैं; जैसे केंचुआ, इन्द्रगोप, मेढक आदि वे उद्भिद् कहे जाते हैं।

पार्थिव पदार्थ—उन्हें कहते हैं जो पृथ्वीसे या खानसे उत्पन्न होते हैं। सोना, चांदी, शीशा, रांगा, तांबा, बालू, लोहा, जस्ता, शिलाजीत, चूना, मैनसिल, हड़ताल, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, राजावर्त, लाल, फीरोजा, वैक्रान्त, हीरा, सेंधा नमक, सौवर्चल, बिड्नोन, गेरू, खरिया मिट्टी आदि। इसमें जल, वायु, अग्नि आदिका भी ग्रहण होता है।

औद्भिद पदार्थ—उन्हें कहते हैं जो पृथ्वी फोड़कर उगते हैं अर्थात् वनस्पति रूपसे उत्पन्न होते हैं। औद्भिद पदार्थके चार भेद हैं। जिनमें विना फूलके फल लगते हैं उन्हें वनस्पति कहते हैं। जैसे बरगद, पीपल, पाकर, गूलर आदि। जिनमें फूल आकर फल लगते हैं और जिनमें लता और पुष्पके गुच्छे होते हैं उन्हें वीरुध कहते हैं। जैसे गुर्च, धमासा, रूसा आदि। जो ओषधिवृक्ष फल पकनेपर नष्ट हो जाते हैं उन्हें वनस्पति कहते हैं। जैसे मकोय, सौंफ, जीरा आदि। इनमेंसे इनके रसका वर्णन करते समय या ओषधिके काममें लाते समय किस अंगका उपयोग होता है, वह भी जानना जरूरी है। नीम आदिकी छाल, खैर आदिका सार, बबूल आदिका गोंद, क्षीरी वृक्षोंका दूध, आम आदिका फल; गुलाब आदिका फूल; सरसों, तिल आदिका तेल; गोखरू आदिके कांटे, बरगद आदिके पत्ते और वटरोह; दूध आदि तथा अंकुर, पीपलकी छालकी भस्म, सूरन-रतालू आदिकी कन्द इत्यादि औद्भिद द्रव्योंके चार उपभेद हैं। १ वनस्पति २ वीरुध ३ वानस्पत्य या वृक्ष और ४ औषध, जिनमें बिना प्रत्यक्ष पुष्प लगे हुए फल लगते हैं उन्हें वनस्पति कहते हैं। जैसे बरगद, गूलर आदि। जिनमें प्रकट रूपसे पुष्प और फल दोनों लगते हैं उन्हें वानस्पत्य या वृक्ष कहते हैं। जैसे जामुन, आम, अमरूद आदि। फल लगनेके बाद या पक जानेके बाद जिनका अन्त हो जाता है उन्हें औषध कहते हैं। जैसे धान, गेहूं, जव आदि। जिनकी लता फैलती है तथा जो गुल्मके रूपमें होते हैं उन्हें छोटे उद्भिद वीरुध कहते हैं। जैसे गुर्च, परवर, सहदेयी आदि।

गुण-परिज्ञान

परिभाषा—यद्यपि इस पुस्तकमें द्रव्योंके रस-वीर्य-विपाक और प्रभावका वर्णन करना ही अभीष्ट है। तथापि रसादि स्वयं गुण हैं और गुणमें दूसरे गुण नहीं होते, गुण स्वयं गुणरहित है तथापि द्रव्यमें जो जीवन, बृंहण आदि कर्म करनेकी शक्ति होती है उन कर्मोंके लिये द्रव्य कारण होते हैं। गुणोंके सम्बन्धमें हमारी 'गुण विज्ञान' विस्तृत पुस्तक अलग छपी है। जिन्हें गुणोंका विस्तृत वर्णन देखना हो उसमें देखें। यहां गुणोंका साधारण वर्णन परिचयके लिये देना अभीष्ट है।

चरक सूत्रस्थान अध्याय एकमें गुणका लक्षण दिया गया है:—

'समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः'

इसका भाव यह है कि द्रव्यको आधार बनाकर आधेयरूपसे गुण द्रव्यमें वर्तमान रहते हैं। अर्थात् द्रव्यका आश्रयी होकर रहता है। यह आधेय सम्बन्ध समवायी होता है अर्थात् उस द्रव्यसे कभी अलग नहीं होता—निरन्तर वर्तमान रहता है। इसप्रकार गुणको द्रव्यका समवायवान समझना चाहिये। गुण स्वयं निश्चेष्ट अर्थात् चेष्टारहित निष्क्रिय होता है। उसमें किसी प्रकारकी क्रिया—संयोग विभागरूप कर्म नहीं होता। अर्थात् चेष्टारूप कर्म भिन्न होता है। गुणमें स्वयं गुणान्तर न रहने पर भी वह अपने समानगुणकी उत्पत्तिमें कारणभूत होता है। द्रव्याश्रित कर्मके लिये गुण कारण होता है। पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतोंमें तथा पंचभूत सृष्टिके सभी द्रव्योंमें गुण अपृथक् भावसे—नित्यसम्बन्ध अर्थात् समवाय सम्बन्धसे रहते हैं। द्रव्य उनके आधार हैं और वे गुण द्रव्यके आधेय या आश्रित रहते हैं। इसीको लक्ष्यकर इस वर्ष हरिद्वारमें जो शास्त्रचर्चापरिषद हुई थी, उसमें गुणकी निम्न परिभाषा निर्णय की गयी है:—

'जो समवायसम्बन्धसे द्रव्यमें आश्रित हो, जो चेष्टारूप कर्मसे भिन्न हो, जो गुणरहित हो तथा जो द्रव्यके जीवन-बृंहण आदि कर्मके लिये कारण हो उसे गुण कहते हैं।'

इस पर नोट देकर कहा गया है कि 'चरकमें वर्णित समवायी पदसे द्रव्य की, निश्चेष्ट पदसे कर्म की तथा कारण पदसे अकारण सामान्यविशेष असमवायकी व्यावृत्ति हो जाती है। कुछ लेखक गुणशब्दके पर्यायमें अंग्रेजीके 'ऐकशन' शब्दका प्रयोग किया करते हैं। ऐकशनमें गुण और कर्मका समावेश रहता है, किन्तु हमारे गुणमें इनका अन्तर्भाव नहीं होता। इसी तरह प्रापर्टीज़ या क्वालिटीज़ शब्दोंसे भी गुणकी परिभाषाकी पूर्ति नहीं होती। इसलिये शास्त्रचर्चापरिषदने निर्णय किया है कि गुणशब्दके लिये अंग्रेजीमें भी गुण शब्दका ही प्रयोग करना चाहिये। क्योंकि अंग्रेजी भाषामें कोई एक शब्द गुणके सब अर्थोंका वाचक नहीं है।

भेद—गुणोंके भेदोंके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें बड़ा झमेला है। यदि सभी का समावेश किया जाय तो दर्जनों गुण हो जायेंगे। यहां पर हमें ओषधि और आहार द्रव्योंमें रहनेवाले विशेष गुणोंका ही वर्णन अभीष्ट है। ऐसे मुख्य गुण वाग्भटाचार्य ने २० बतलाये हैं :—

गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः।
गुणाः स सूक्ष्म-विशदाः विंशतिः स विपर्ययाः॥

अर्थात् गुरु, मन्द, हिम, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, सान्द्र, मृदु, स्थिर, सूक्ष्म और विशद से १० तथा इनके १० विपर्यय मिलाकर २० गुण होते हैं। विपर्यय सहित गुण नीचे दिखलाये जाते हैं :—

मूल गुण	विपरीत गुण
गुरु	लघु
मन्द	तीक्ष्ण
हिम	उष्ण
स्निग्ध	रूक्ष
श्लक्ष्ण	खर
सान्द्र	द्रव
मृदु	कठिन
स्थिर	सर
सूक्ष्म	स्थूल
विशद	पिच्छिल

(१) गुरु—जिस द्रव्यमें बृंहण (मोटा ताजा) करनेकी शक्ति हो उसे गुरु समझना चाहिये। गुरु पदार्थ देरसे हज़म होते हैं।

(२) हिम—जो द्रव्य शरीरको लंघन करते हैं, दुबला पतला बनाते हैं। लंघनके उद्दश्यको पूरा करते हैं उन्हें लघु समझना चाहिये। गुरु द्रव्योंमें पृथ्वी और जल तत्वोंकी अधिकता रहती है। लघुद्रव्य शरीरमें उत्साह, स्फूर्ति, मलका क्षय, अवृत्ति और दुर्बलता लानेवाले होते हैं। साधारण बोल-चालमें गुरुको भारी और लघु को हलका कहते हैं।

(३) हिम—हिम या शीत गुणवाले द्रव्य उष्णतासे पीडित मनुष्योंको सुख देनेवाले स्तम्भन करनेवाले तथा मूर्च्छा, तृषा, स्वेद और दाहको नष्ट करनेवाले होते हैं। स्तम्भनका अर्थ मल, मूत्रादि तथा वीर्यका स्तम्भन करनेवाला है। इसे साधारण बोलचालमें ठण्डा कहते हैं। ऐसे द्रव्योंमें जल तत्वकी विशेषता रहती है।

इसके द्वारा शरीरमें संघात और घनता आती है शरीर गठीला बनता है। इसे कर्मके द्वारा और स्पर्शके द्वारा भी जान सकते हैं।

(४) उष्ण—यह शीतसे विपरीत उष्ण या गरम होता है, शरीरमें बेचैनी पैदा करता है। स्नारक अर्थात् मल-स्वेद आदि की प्रवृत्ति करनेवाला होता है। मूर्च्छा, तृषा, स्वेद तथा दाहको उत्पन्न करता है। किन्तु खाये हुए द्रव्योंको शीघ्र पचाता है, वस्तुओं और घावको भी सड़ाता एवं पचाता है। ऐसे द्रव्य आग्नेय होते हैं। वैशेषिकमें शीत और उष्णको स्वतन्त्रगुण न मानकर स्पर्श अर्थके अन्तर्गत कहा गया है।

(५) स्निग्ध—स्निग्ध गुण शरीरमें चिकनापन और मृदुता लाने वाला एवं बल तथा वर्णको बढ़ानेवाला होता है। वातको हरना और कफको बढ़ाना तथा वाजीकरण गुणवाला होता है। यह शरीरमें आर्द्रताको बढ़ाता है। स्नेह द्रव्य प्रायः पतले द्रव होते हैं; अत एव उनमें आप्य जलतत्त्वकी अधिकता रहती है। स्निग्ध गुणसे मृदुता और कणोंका संयोजन होता है।

(६) रूक्ष—रूक्ष स्निग्धके विरुद्ध शरीरमें रूक्षता और कठिनता आती है। शरीरके बल और वर्णका ह्रास होता है। कफको सुखाकर मलका स्तम्भन करता है। यह वातको बढ़ाता और अवृष्य है, शरीरको दुर्बल करता है। द्रव्योंमें पृथ्वी-वायु और अग्निमहाभूतोंकी अधिकतासे रूक्षता आती है। वैशेषिकने इसे स्वतन्त्र गुण न मानकर स्नेहका अभाव माना है।

(७) मन्द—मन्द गुणमें मात्राकी कमी रहती है। यह विलम्बसे कार्य करनेवाला, शिथिलता लानेवाला, थोड़ा काम करनेवाला और शमन करनेवाला होता है। इसमें पृथ्वी और जलतत्त्वकी विशेषता रहती है।

(८) तीक्ष्ण—तीक्ष्ण गुणवाला द्रव्य दाहको बढ़ाता, घावको पकाता और बहाता है। पित्तको बढ़ाता और शरीरको पतला बनाता है। स्थूल शरीरका लेखन कर मेद छाटता है। इससे कफ और वायुका नाश होता है। तीक्ष्णमें शोधन करने की शक्ति होती है। अग्निमहाभूतकी अधिकतासे तीक्ष्ण गुण उत्पन्न होता है।

(९) स्थिर—स्थिर गुणवाला द्रव्य वायु और मल-मूत्र-स्वेदका स्तम्भन करता है। इससे धारण स्तम्भन कर्मकी शक्ति रहती है। इसका गुण शरीरमें चिरस्थायी होता है। इसमें पृथ्वीतत्त्वकी अधिकता रहती है।

(१०) सर—सर द्रव्य वात और मलकी प्रवृत्ति करनेवाला, निकालनेवाला होता है। यह स्थिरके विपरीत है; किन्तु अष्टाङ्गहृदय और अष्टांगसंग्रहमें स्थिरके विपरीत चल गुण माना है। जिसमें प्रेरण करनेकी शक्ति हो वह चल है। चलमें

गति है और सरमें भी गति है। अत एव इसमें सिद्धान्ततः विशेष भेद नहीं है। जलमहाभूतकी अधिकतासे द्रव्योंमें सरत्व गुण आता है।

(११) मृदु—मृदुगुणवाला द्रव्य दाह, पाक और स्रावको नष्ट करता है। यह कोमलता और ढीलापन लाता है। इसमें आकाश और जलतत्वकी अधिकता रहती है।

(१२) कठिन—कठिन गुणोंमें कठिनता और दृढ़ता लानेकी शक्ति होती है। कठिनता पृथ्वीमहाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होती है।

(१३) विशद—विशद गुण श्लक्ष और लिलविलापनके विपरीत और क्लेदका शोषण करनेवाला होता है। अत एव व्रणरोपण है। क्लेदका चालन करना इसका प्रधान कर्म है। जिन द्रव्योंमें पृथ्वी, वायु, अग्नि और आकाश महाभूतकी अधिकता हो वे विशद होते हैं।

(१४) पिच्छिल—पिच्छिलगुणवाला द्रव्य जीवनी शक्तिको बढ़ाता है, बल उत्पन्न करता है और सन्धान करनेवाला अर्थात् टूटी हुई हड्डी आदिको जोड़नेवाला है। कफकारक और भारी होता है, ऐसे पदार्थोंमें लस रहती है। यह शरीरमें लिपटता अत एव लेपन कर्ममें व्यवहृत होता है।

(१५) श्लक्ष्ण—श्लक्ष्णगुणवाला द्रव्य पिच्छिल गुणके समान ही कर्म करने वाला होता है। पिच्छिलमें स्नेहनका अंश आवश्यक है, किन्तु श्लक्ष्ण अर्थात् चिकना गुण स्नेहनके बिना भी हो सकता है। जैसे खराद और घिसनेसे मणियोंमें चिकनापन ले आना, लकड़ीको रगड़कर चिकनी बना लेना, दीवाल या फर्शको घोटकर चिकनीकर देना द्रव्यके कठिन होनेपर भी घर्षणसे चिकना हो जायगा। इसमें व्रणका रोपण करनेकी शक्ति होती है। श्लक्ष्ण गुणवाले द्रव्योंमें अग्नितत्वकी प्रधानता रहती है।

(१६) खर—खरको खरखरा या कर्कश भी कह सकते हैं। कर्कोटकका फल तथा कटहरका फल इसके उदाहरण हैं। खर गुणवाले द्रव्य घावका लेखन करते हैं। घावमें बढ़े हुए मांसके अंकुर आदि को छीलते हैं। ऐसे द्रव्योंमें वायुतत्वकी प्रधानता रहती है। किन्तु पृथ्वी और तेजका रहना भी आवश्यक होता है।

(१७) सूक्ष्म—सूक्ष्म गुणवाला द्रव्य अपनी सूक्ष्मताके कारण शरीरके सूक्ष्म स्रोतसोंमें भी प्रवेशकर सकता है। ऐसे द्रव्य भरे हुए स्रोतसोंको भी खोलकर साफ कर देते हैं। अग्नि, वायु और आकाश तत्वके कारण सूक्ष्म गुणकी उत्पत्ति होती है।

(१८) स्थूल—स्थूल गुणवाला द्रव्य शरीरमें स्थूलता लाता है, स्रोतसोंका

अवरोध करता है। इसका पचन भी देरसे होता है। स्थूल द्रव्यमें पृथ्वी महाभूत-की अधिकता स्थूलता उत्पन्न करती है।

(१९) सान्द्र—सान्द्र गाढ़ेपनको कहते हैं। ऐसे गुणवाले द्रव्य शरीर को स्थूल और पुष्ट करते हैं। इसमें पृथ्वी महाभूतकी अधिकतासे सान्द्र गुण उत्पन्न होता है।

(२०) द्रव—द्रवगुणवाला द्रव्य पतला और नीचेकी ओर बहनेवाला होता है। यह सब जगह व्याप्त हो जाता है। ऐसे गुणयुक्त द्रव्य विलोडन-हिलोरने योग्य और व्याप्त होनेवाले होते हैं।

मुख्य गुण ये २० ही हैं। चरक और अष्टांगसंग्रहकारने इन्द्रियार्थोंको भी (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धको भी) गुणोंमें संमिलित किया है। सुश्रुत और वृद्ध वाग्भटने व्यवायी और विकाशीको भी गुणमाना है। किन्तु व्यवायी और विकाशी द्रव्यके गुण नहीं कर्म हैं।

व्यवायी—उसे कहते हैं जो पचनेके पहले ही-अपक्वावस्थामें ही सारे शरीरमें व्याप्त होकर परिपाकको प्राप्त होता है। द्रव्यमें वायु और आकाश महाभूतकी अधिकतासे व्यवायी गुण उत्पन्न होता है। कुछ आचार्योंका मत है कि सर गुणकी प्रकर्षावस्था ही व्यवायी है।

विकाशी—गुणकर्मवाला द्रव्य अपक्वावस्थामें ही समस्त शरीरमें व्याप्त होकर धातुओंमें शिथिलता उत्पन्न करता है, सन्धिबन्धनोंको ढीला करता है। वायुमहाभूत की अधिकतासे विकाशी शक्तिकी उत्पत्ति होती है। इसे भी सर गुणकी प्रकर्षावस्था समझना चाहिये। वृद्ध वाग्भटने सत्व-रज और तमको भी गुणोंमें शामिल किया है। यद्यपि ये मानस गुण हैं, परन्तु इनके कारण आहार द्रव्योंमें गुणभेद उत्पन्न होता है इसलिये इन्हें आचार्यने महागुण नामसे उल्लेख किया है। सुश्रुतने आशु-कारी को भी गुण माना है। जिसमें शीघ्र क्रिया करनेकी शक्ति हो और जो पानीमें पड़े हुए तेलके समान शीघ्र ही सारे शरीरमें फैल जाय उसे आशुकारी कहते हैं। सुश्रुतने सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी गुण माना है; किन्तु इन्हें गन्ध गुणके भेद मानना चाहिये। जो द्रव्य सुगन्ध गुणयुक्त हो, चित्तको प्रसन्न करनेवाला हो सूक्ष्म हो और अन्न पर रुचि उत्पन्न करनेवाला हो उसे सुगन्ध कहना चाहिये। इसके विपरीत जिसमें दुर्गन्धि हो, जिसे देखने या ग्रहण करनेसे जी मचलावे जो अरुचि उत्पन्न करने वाला हो वह दुर्गन्ध कहा जाता है। चरकके सूत्रस्थान अध्याय एकमें गुणोंकी संख्या इस प्रकार गिनायी गयी है।

> सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः।
> गुणाः प्रोक्ताः·················॥

अर्थात् अर्थके ५ गुण, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध; गुर्वादि ऊपर गिनाये हुए २० गुण, बुद्धि अर्थात् ज्ञान; जिसमें स्मृति-चेतना-धृति-अहंकारादि बुद्धि सम्बन्धी गुणोंकी गणना है। इच्छा-द्वेष-सुख-दुःख और प्रयत्न ये प्रयत्नादि गुण हैं। इसके बाद पर-अपर-युक्ति-संख्या-संयोग-विभाग-पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये परादि गुण हैं। इसप्रकार यदि बुद्धि को अकेले गिना जाय तो ४१ और यदि बुद्धिके भेदोंको भी गिना जाय तो ४५ गुण होते हैं। किन्तु ये सब आयुर्वेदिक द्रव्यगुण सम्बन्धी गुण नहीं हैं। अर्थादि ५ गुण वैशेषिक हैं, गुर्वादि २० गुण सामान्य हैं, बुद्धि और द्रवत्वादि परमात्मासम्बन्धी आत्मगुण हैं। परादि गुण सामान्य होने पर भी अत्यन्त उपयोगी नहीं हैं। अर्थादि गुणोंमें मनके चिन्तना, विचार, ऊहा, ध्येय और संकल्प गुणोंका भी ग्रहण होता है। रसवैशेषिकमें शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल-गुरु-लघु-मृदु और तीक्ष्ण इन दश गुणोंको कर्मण्यगुण कहा है। अर्थात् ये चिकित्सा कर्ममें विशेष योग्यता रखनेवाले हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धमेंसे जिह्वाके रसको छोड़ कर शेष श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, और घ्राणके विषय हैं। इनका विशेष विचार शरीरक्रियाविज्ञान और मनोविज्ञानमें हो सकता है। प्रस्तुत विषयमें विशेष कर गुर्वादि २० गुण ही ग्राह्य हैं। यों तो आजकलके कुछ आचार्य भौतिकशास्त्रमें आनेवाले (१) आपेक्षिकगुरुत्व (२) भार (३) विभाज्यत्व (४) काठिन्य (५) घनत्व (६) सम्पीड्यत्व (७) स्थितिस्थापकत्व (८) घनवर्धनीयता (९) भङ्गुरता (१०) तान्तवता (११) नम्यता (१२) विलेयता (१३) संसक्ति (१४) आसक्ति (१५) प्रवेश्यता (१६) पिच्छतात्व (१७) पारदर्शकता (१८) परिवाहकत्व (१९) सच्छिद्रता (२०) शोषकत्व और (२१) उड़नशीलत्व तथा केमिकल प्रापर्टीज़के (२२) क्वथनांक और (२३) द्रवणाङ्क को भी गुणोंमें शामिल करने की सलाह देते हैं। किन्तु ऊपर लिखे ४१ गुणोंमें इनका अन्तर्भाव आ जाता है। आपेक्षिक गुरुत्व और भार गुरु गुणमें, विभाजनका विभागमें, काठिन्य और घनत्वका सान्द्रमें और घनमें, सम्पीड्यत्व-स्थिरस्थापकत्व-घनवर्धनीयता और तान्तवताका संस्कारमें, भंगुरत्वका द्रव्यविशेषमें, संसक्ति और आसक्तिका संयोगमें, प्रवेश्यता, सच्छिद्रता और शोषकत्वका द्रव्यकी विशेषस्थितिमें और उड़नशीलता का सरगुणमें समावेश होना सम्भव है। विद्यार्थियोंको जानकारीके लिये इनका उल्लेख कर दिया गया है। किन्तु विशेषरूपसे सामान्य २० गुण ही विशेष चिन्तनीय हैं।

दूसरी दृष्टिसे रस-वीर्य-विपाक और प्रभावको विशेषगुण और गुर्वादि २० को साधारण गुण मानकर २४ भेद किये जाते हैं। न्यायशास्त्रमें भी २४ गुण माने जाते हैं। उनका विवरण नीचे लिखे अनुसार है।

गुण—रसका अनुभव द्रव्यके द्वारा होता है अर्थात् द्रव्य मुख्य है और रस

उसका एक गुण है, दूसरी दृष्टिसे द्रव्यके २४ गुण होते हैं, उनमेंसे रस भी एक गुण है। उन चौबीसों गुणोंके नाम ये हैं:—१-रस २-वीर्य ३-विपाक ४-प्रभाव ५-गुरु (भारी, अर्थात् द्रव्यमें जो पुष्टि करनेकी शक्ति होती है, जिसे शास्त्रमें बृंहण-शक्ति कहते हैं) ६-लघु (हलका, दुबला पतला और हलका करनेकी जो शक्ति पदार्थोंमें रहती है) ७-मन्द अर्थात् शमनशक्ति ८-तीक्ष्ण अर्थात् शोधनशक्ति ९-हिम अर्थात् स्तम्भनशक्ति १०-उष्ण अर्थात् स्वेदनशक्ति ११-स्निग्ध अर्थात् क्लेदनशक्ति-गीला करनेकी ताकत १२-रूक्ष अर्थात् शोषणशक्ति-सुखाने वाली ताकत १३-श्लक्ष्ण अर्थात् रोपणशक्ति जिसे स्थापनशक्ति भी कहते हैं इस गुणके द्वारा घाव आदि जल्दी भरते हैं। १४-खर अर्थात् लेखनशक्ति इस शक्तिके द्वारा वमन होता है और रसादि धातु तथा वातादि दोषोंको सुखाकर पतला करनेकी क्रिया होती है। १५-सान्द्र अर्थात् प्रसादनशक्ति, सुन्दरता बढानेकी शक्ति १६-द्रव अर्थात् विलोडन-मंथनशक्ति १७-मृदु अर्थात् कोमलता लाने और ढीला करनेकी शक्ति १८-कठिन अर्थात् दृढीकरणशक्ति १९-स्थिर अर्थात् धारणाशक्ति २०-चल अर्थात् गति कारक प्रेरणशक्ति २१-सूक्ष्म अर्थात् विवरण, शारीरिक स्रोतस और नसोंको खोलनेकी शक्ति २२-स्थूल अर्थात् संवरण-वेष्टन-आच्छादनशक्ति २३-विशद अर्थात् चालन फिसलनेकी शक्ति और २४-पिच्छिल अर्थात् लेपन शक्ति। इनमेंसे पहलेके चार अर्थात् रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव विशेष गुण हैं; और पिछले बीस साधारण गुण हैं। इन बीसोंका वर्णन पहले हो चुका है।

न्यायके चौबीस गुण—न्याय-शास्त्रमें द्रव्यके चौबीस गुण निम्नलिखित कहे गये हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

सांख्यके चौबीस गुण—द्रव्यके मूल कारणको सांख्यशास्त्र गुण न कहकर तत्व कहता है। अष्ट प्रकृति, पंचतन्मात्र, पंचकर्मेन्द्रिय और पंचज्ञानेन्द्रिय तथा मन मिल कर ये २४ तत्व होते हैं। प्रकृति, महत्, अहंकार (सत्व, रज, तम), शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये ८ अष्टप्रकृति हैं। आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी ये पंचतन्मात्र तत्व हैं। गुदा, लिंग, हाथ, पांव और मुख ये पंचकर्मेन्द्रिय हैं। कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा और नासिका ये पञ्चज्ञानेन्द्रिय हैं। मन भी एक ज्ञानेन्द्रिय है। इन सबोंको मिला कर २४ हुए। इन सबोंके ऊपर सांख्यने आत्माको माना है। किन्तु द्रव्यगुण और रसादि विचारमें न्याय और सांख्यके गुणोंका विचार करना समीचीन नहीं होगा।

द्रव्यकर्म-परिज्ञान

द्रव्य अपना कर्मसम्पादन विशेषकर रस-वीर्य-विपाक और प्रभावके द्वारा अर्थात् अपने गुणोंके द्वारा किया करते हैं। किन्तु कभी कभी द्रव्य अपने कर्मके द्वारा भी कर्म सम्पादन करते हैं। जब वह कर्म द्रव्यके कर्मके कार्यकारण सम्बन्धके अनुकूल होता है तब उसे द्रव्यका कर्म कहते हैं, किन्तु जब उस कर्मका कार्य-कारण सम्बन्ध बुद्धिगम्य नहीं होता अचिन्त्य होता है तब वह द्रव्यका प्रभाव कहलाता है। जैसे पार्थिव द्रव्य अपने गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र स्थूल, गन्ध गुण बहुल होते हैं। वे अपने द्रव्यप्रभावसे उपचय, (बृंहण), संघात गौरव, स्थैर्य, बल और अधोगमनका कार्य सम्पादन करते हैं। जलीय द्रव्य क्लेदन, स्नेहन, बन्धन, विष्पन्दन, मृदुता और प्रल्हादन कर्मका सम्पादन करते हैं। आग्नेय-द्रव्य दहन, पचन, प्रभा, प्रकाशन, वर्ण, दारण और तापनका कर्म सम्पादन करते हैं। वायव्य द्रव्य विरूक्षण, ग्लपन, विचारण, वैशद्य, लाघव, कर्शण और आशुकारी कर्मका सम्पादन करते हैं। नाभस द्रव्य मृदु वा सौषिर्य (पोलापन), लाघव और विवरणका कार्य सम्पादन करते हैं। जो औषधि सूचीवेध द्वारा एकदम रक्तमें पहुंचायी जाती वह द्रव्य कर्मके द्वारा अपनी क्रिया तुरन्त आरम्भ कर देती है। मुखद्वारा खायी हुई औषध आमाशयमें जाकर ग्रहणी होकर आंतोंमें जाती है। आंतोंकी श्लेष्मलकला द्वारा उसके रसका शोषण होता है। कई प्रतिहारिणी सिराओं द्वारा यकृतमें पहुंचता है। वहां की रसायनियों द्वारा चूसा जाकर रुधिर प्रवाहमें मिलता है। यकृतमें पहुंचकर उसके सूक्ष्म कोषोंसे होकर तब रुधिर प्रवाहमें मिलता है। यदि ऐसे द्रव्यमें कोई विषाक्त भाग हो तो यकृत अपनेको हानि पहुंचाकर भी उसे निर्विष बनाता है। व्यवायी, विकाशी, आशुकारी द्रव्य-कर्म और विशद गुणके कारण इनका असर पहले यकृतमें पहुंचता है। इसके बाद पचन होता है।

लेप, मलहम आदि ओषधियोंका स्थानिक कार्य रसवीर्य द्वारा नहीं, द्रव्यकर्म द्वारा होता है। उसका शोषण होकर वह रुधिर प्रवाहमें मिल जाता है। क्षार आदिका दाहक प्रभाव भी द्रव्यके कर्मद्वारा होता है। कई द्रव्य अपने भौतिक कर्मों द्वारा शारीरिक कोषोंपर—शरीर पर प्रभाव डालते हैं। इस क्रियाको आधुनिक वैज्ञानिक फिजिकल प्रापर्टीज़ कहते हैं। यह भी द्रव्य की ही कृति है। रासायनिक क्रिया द्वारा जो कार्य होता है उसे भी द्रव्यकर्म ही समझना चाहिये। इसीलिये द्रव्योंके कल्प और योग द्रव्यगुणके साथ द्रव्यकर्मका विचारकर तैयार करने चाहिये। दीपन-पाचन, आशुकारी आदि द्रव्यकर्म हैं। दीपन औषध जठराग्निको प्रदीप्त करती है। भूख बढ़ाती और जाठररस उत्पन्न करती है। जैसे भांग।

पाचन द्रव्य आमको पचाते हैं; परन्तु जाठररसमें विशेष वृद्धि नहीं करते. जैसे नागकेसर। आशुकारी, व्यवायी, विकासी आदि कर्म रुधिराभिसरण द्वारा प्रसर पानेसे होता है। मद्य पहले शरीरमें फैल जाता है उसके बाद उसकी पाकक्रिया होती है। जीवनीयगणकी ओषधियां अपने कर्म द्वारा जीवनधारणमें सहायक होती है। बृंहण कर्म प्रधान मांसादि भी द्रव्यकर्मसे ही अपना कार्य करते हैं। पदार्थों का लेखनीय धर्म भी द्रव्यकर्म है। लेखनीय द्रव्य शरीरके मल-कफ-मेद आदिको सुखाकर निकाल देते हैं। भेदनीय द्रव्य भी शरीरसे मल और दोषोंको निकालते हैं। वर्ण्य द्रव्य बल और शक्तिको बढ़ानेवाले होते हैं। चन्दन, पद्माख, मजीठ, अनन्तमूल तथा लोध्रादिगण और एलादिगणके द्रव्य शरीर की कान्तिको बढ़ाते हैं, इसीलिये वर्ण्य कहे जाते हैं। अनन्तमूल, मुलेठी, मुनक्का आदि द्रव्य अपने कर्मसे गलेके स्वरको सुधारते हैं अतएव कण्ठ्य कहे जाते हैं। जब द्रव्य अपने कर्मसे मनको प्रिय और हृदयको हितकर कर्म करता है तब वह कार्य हृद्य कहलाता है। आम, अर्जुन, माणिक्य, नीलम, अम्बर और परुषकादि वर्गके द्रव्य ऐसे ही हृद्य हैं। जो द्रव्य अपने कार्यसे अरुचिको दूर करते हैं, बिना खाये हुए पेट भरासा मालूम होनेके तृप्ति विकारको दूर करते हैं, उस कर्मको तृप्तिघ्न कहते हैं। सोंठ, चित्रक, गिलोय, वच, नागरमोथा, धनियां अजमोदा और बृहत्यादि तथा गुडूच्यादि वर्गके द्रव्य ऐसे ही हैं। कुटज-बेल-हर्रा-दारुहल्दी-नागकेसर द्रव्यकर्म स्वभावसे अर्शको नष्ट करनेवाले होनेसे अर्शघ्न कहाते हैं। खैर, हर्रा, आंवला, अमलतास, तुवरकतैल, आरग्वधादिगण, त्रिफलादिगण, त्र्यूषण और लाक्षादिगण कुष्ठघ्न हैं। सहिंजन-कालीमिर्च-वायविडंग-सँभालु आदि आदि अपने कर्मसे कृमिको नष्ट करनेके कारण कृमिघ्न कहलाते हैं। हल्दी-मजीठ-इलायची-चन्दन-निर्मली-निर्विषी, लोध्रादिगण, अर्कादिगण, पटोलादिगण, एलादिगण, उत्पलादिगणके द्रव्य अपने कर्मसे विषनाशक हैं अतएव विषघ्न कहलाते हैं।

द्रव्यकर्मके ये थोड़ेसे उदाहरण हुए। स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, शुक्रजनन, वाजीकरण, शुक्रशोधन, स्नेहोपगम, स्वेदोपगम, वमनोपगम, विरेचनोपगम, आस्थापनोपगम, अनुवासनोपगम, शिरोविरेचनोपगम, छर्दिनिग्रहणम् , तृष्णानिग्रहणम् , हिक्कानिग्रहणम् , पुरीषसंग्रहणीयम् , पुरीषविरजनीयम् , मूत्रसंग्रहणीयम् , मूत्रविरजनीयम् , मूत्रविरेचनीयम् , कासहर, श्वासहर, शोथहर, श्वयथुकर, ज्वरहर, श्रमहर, दाहप्रशमन, दहन, शीतप्रशमन, अङ्गमर्दप्रशमन, शूलप्रशमन, शोणितस्थापन, संज्ञास्थापन, प्रजास्थापन, वयःस्थापन, लंघन, स्तम्भन, संशमन, वमनकर, विरेचन, अनुलोमन, रसायन आदि ऐसे ही कर्म हैं जो द्रव्यस्वभावसे सम्पादित होते हैं। इनका विस्तार द्रव्योंके गुणोंमें देखना चाहिये।

रसपरिज्ञान

परिभाषा

रसनेन्द्रियके द्वारा किसी द्रव्यके जिस स्वादका परिचय मिलता है, उसे रस कहते हैं। महर्षि चरक कहते हैं:—

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥

'रस्यते—आस्वाद्यते इति रसः' किसी पदार्थका स्वाद इसके द्वारा जाना जाता है, इसलिये इसे रस कहते हैं। वह रसनारसनेन्द्रिय-जिह्वाका अर्थ अर्थात् ग्राह्य विषय है। पञ्चभूतोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको अर्थ कहते हैं। 'शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा अर्थाः'। रस इन्द्रियग्राह्य विषय है और वह द्रव्यके अधीन है। बिना द्रव्यके अलग उसका अनुभव नहीं किया जा सकता। द्रव्य आधार है और रस उसका आश्रित आधेय है। सम्पूर्ण द्रव्य अर्थात् पदार्थ मञ्चमहाभूतों (आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी) से बने हुए हैं। अतएव रस द्रव्य भी पञ्चमहाभूतोंसे ही बना है। सुश्रुत कहते हैं 'तस्मादाप्यो रसः' अर्थात् रस जलका गुण है। महर्षि चरक कहते हैं कि रसका द्रव्य जल और पृथ्वी है इसका यही मतलब हुआ कि जलका नैसर्गिक गुण रस है और पृथ्वीका उसमें समावेश अनुप्रवेश विधिसे हुआ है। इस प्रकार इसकी योनि (उत्पत्तिका मूल कारण) जल है और पृथ्वी उसका आधार है। जल स्वभावतः रसवाला है, पृथ्वी जलके अनुप्रवेशसे रसवती होती है, अतएव पृथ्वी आधार-कारण है। यही नहीं रसकी पूर्ति या अभिव्यक्तिमें आकाश, वायु और अग्नि भी कारण हैं। क्योंकि जल अन्तरिक्षसे गिरकर पञ्चमहाभूतोंके गुणोंसे समन्वित होकर जंगम और स्थावर सब मूर्त द्रव्योंका पोषण करता है जिससे द्रव्योंमें ६ रस बनते हैं।

जिह्वामें किसी पदार्थके रखते ही उस द्रव्यके जलतत्त्व और मुखगत श्लेष्मा लाला ग्रन्थियोंकी लारसे रसका ज्ञान होता है। यदि आस्वाद्यके समय मन स्थिर न हो; कहीं अन्य विषयमें प्रवृत्त हो, रसनेन्द्रिय पूर्णकार्यक्षम न हो, अस्वस्थ हो, रसवाले द्रव्यकी मात्रा कम हो, मुँह सूखा हो, बोधक कफका स्राव न हो रहा हो तो द्रव्यगत रसका स्वाद नहीं मालूम पड़ेगा। मधुर, लवण, अम्ल आदि रसका ज्ञान नहीं होगा। यद्यपि जलका प्रधान गुण या विषय रस है तथापि जब तक जल शुद्ध अकेला रहता है तब तक उसमें किसी रसकी मधुरादिकी अभिव्यक्ति नहीं होती। अर्थात् शुद्ध जल अव्यक्त रस है। किन्तु जब जलका सहयोग पृथ्वी महाभूतसे होता है तब उसमें मधुरादि रसोंकी अभिव्यक्ति होती है। इसीलिये

जल और पृथ्वी दो महाभूत रसके आधारभूत माने गये हैं। रसके मधुरादि भेद होनेमें पृथ्वी और जलके अतिरिक्त आकाश, वायु और अग्नि भी कारण हैं, इसीलिये 'प्रत्ययाः खादयस्त्रयः' कहकर उसकी सूचना की गयी है।

ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि रस रसनाका विषय है। तथापि ओषधियोंके रसोंका ग्रहण जिह्वाके अतिरिक्त अन्य अंगोंसे भी हो सकता है। यह और बात है कि जिह्वा पर रसकी संवेदना विशेष रूपसे होती है। जैसे कटु या कषाय रसका ज्ञान जिह्वामें तो होता ही है किन्तु गलेमें और आमाशयमें भी होता है। त्वचा पर होता है। ऐसी दशामें चरक और अष्टाङ्गसंग्रह की यह परिभाषा भी ध्यान देने योग्य है। चरक कहते हैं 'रसो निपाते द्रव्याणां' और अष्टाङ्गसंग्रहकार कहते हैं 'रसं विद्यान्निपातेन' अर्थात् द्रव्य का निपात होने पर रसका ज्ञान होता है। अर्थात् किसी स्थान पर द्रव्यके पड़नेसे द्रव्यका संयोग होनेसे निपातस्थान पर रसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। डाक्टर वाणेकर जी लिखते हैं कि कषायरसयुक्त फिटकरीका त्वचा पर प्रयोग करनेसे स्थानिक लसिकास्राव और रक्तस्राव बन्द होता है। आंखोंमें डालनेसे पानीका स्राव और खानेसे आमाशय तथा आन्त्रस्राव कम होता है। 'अम्लः क्षालयते मुखम्' अम्लरस मुखका क्षालन करता है, मुखको साफ करता है। 'लवणः स्यन्दयत्यास्यं' लवणसे मुखमें लार अधिक उत्पन्न होती है। 'कटुः स्रावयत्यक्षिनासास्यं' कटु रसके सेवनसे मुंह और नाकसे पानी टपकता है। ये लक्षण भी प्रत्यावर्तनके हैं। इन लक्षणोंसे भी अनुभव होता है।

रसोंकी उत्पत्ति

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रसोंकी मूल उत्पत्ति जलसे हुई है; क्योंकि जल तन्मात्रमें ही रसकी अनुभूति होती है। 'आप्यो रसः' पदसे यही सिद्ध होता है कि रस जलका ही मुख्य गुण है। जलकी उत्पत्ति सोम देवता अथवा वरुणसे हुई है और वह आकाशसे (पृथ्वीका सोम भाग सूर्यकी किरणोंसे भाफ बन ऊपरको उठता है और वही भाफ का भाग ऊपरकी सर्दीसे कुछ घनीभूत हो बादलोंका आकार धारण करता है। बादल ज्यों ज्यों भारी होते हैं त्यों त्यों पृथ्वीके समीप आते हैं और पृथ्वीकी गरमीसे वह भाफका घन भाग द्रव होकर पानीके रूपमें पृथ्वी पर गिरता है) पृथ्वी पर आता है। जल स्वभावतः ठण्डा और हलका होता है। इस जलमें ही बीजरूपसे छहों रस विद्यमान हैं। इतना होने पर भी स्वयं जल अव्यक्त रस कहा है। अर्थात् शुद्ध जल जो आकाशसे गिरता है और जबतक उसमें पृथ्वी और पृथ्वीके वायुका स्पर्श नहीं होता है तब तक उसके स्वादमें किसी भी रसकी अनुभूति नहीं होती है। जलमें जो मीठा, खारा आदि नामाभिधान किया जाता है

वह उस पृथ्वीके कारण है जिसमें वह जल रहता है। जहांकी मिट्टी शुद्ध कँकरीली और पथरीली होती है वहांका पानी मीठा होता है; किन्तु जिस भूमिमें क्षारका अंश अधिक रहता है वहांका जल भी खारा होता है। अर्थात् वह रसास्वाद जलका नहीं वहांकी भूमिके विकार का है। सृष्टिके सम्पूर्ण पदार्थ पञ्चमहाभूतोंके बिना उत्पन्न नहीं हो सकते। उनका अधिष्ठान पृथ्वी और योनि जल है। आकाश, वायु और अग्नि उनके समवायिकारण हैं। अर्थात् ये उसमें निरन्तर संमिलित रहते हैं। ऐसी दशामें अन्तरिक्षसे गिरनेवाले जलमें जब तक पृथ्वीका संयोग न हो तब तक रसोंको अधिष्ठानकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उसके सिवाय रसोंका अनुभव कहां स्वतन्त्र रूपसे नहीं होता। आचार्य वाग्भट कहते हैं:—

गुर्वादयो गुणाद्द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये।
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः॥

अर्थात् रसोंके सम्बन्धमें जो यह कहा जाता है कि यह भारी है, यह हलका है, वह केवल सहचारीभावके कारण है; यथार्थमें गुण होनेके कारण गुणमें गुणान्तर नहीं होता अत एव रस हलके या भारी नहीं होते। हलकापन या भारीपन उस द्रव्यमें होता है जिसमें रस रहते हैं। अतएव उस द्रव्यके भारी या हलका होनेके कारण रसको भी भारी या हलका कहने की चाल चल गयी है। अर्थात् गुरु आदि गुण द्रव्यमें होते हैं और रस द्रव्योंके ही आश्रित रहते हैं। द्रव्य और रसका सह-चारीभाव है दोनों साथ साथ रहते हैं। इसलिये यह न कह कर कि अमुक द्रव्य भारी या हलका है, रसोंके बारेमें कह दिया जाता है कि अमुक रस भारी है, अमुक हलका है आदि। गुड़ आदि मधुर पदार्थोंमें मधुररस आश्रयकर रहता है और गुड़के भारीपनके कारण मधुर रस भारी कहा जाता है। जैसे कोई मनुष्य जलते घीसे जल जाय तो कहा जाता है कि घीसे जल गया। परन्तु घीमें जलानेवाली शक्ति नहीं, यथार्थमें वह घृतस्थित अग्नि अर्थात् घृतमें आश्रयकिये हुए अग्निसे जला है। अर्थात् रसकी उपलब्धिके लिये पृथिव्यादि पदार्थोंकी अपेक्षा होती है और जबतक पदार्थ-का सहचरत्व प्राप्त न हो तब तक रस अव्यक्तभावमें ही रहते हैं। उनका मधुर—अम्ल आदि भेद विकसित नहीं होता। इसीलिये जल अव्यक्तरस है। यदि ऐसा न होता तो केवल जलमें ही रसका आविर्भाव रहता और पार्थिव पदार्थोंमें रसकी उपलब्धि होती ही नहीं। जब तक रसभेदका विश्लेषण न हो जाय, अव्यक्तरस जब तक मधुर-अम्ल आदि विशेषण पानेलायक न हो जाय, तब तक वह अव्यक्त ही रहता है। रस स्वयं द्रव्य नहीं, द्रव्यका आश्रयी है। तेज, वायु और आकाशमें रसका अभिव्यक्ति नहीं हैं; क्योंकि आकाशका शब्द, वायुका शब्द और स्पर्श तथा अग्निका शब्द-स्पर्श-रूप ही विषय हैं। इसका प्रत्यक्ष आगम इनमें नहीं। तथापि

पञ्चभूतोंका मेल होने पर आकाश-तत्त्व-विशिष्ट पदार्थोंको छोड़ (इनका रस अव्यक्त है) अग्नि और वायु तत्त्ववाले पदार्थोंमें क्रमशः अम्ल-लवण और तिक्त-कषाय रसकी अनुभूति होती ही है। यद्यपि रस जलीय पदार्थ है, तथापि पूर्वभूत गुण उत्तरभूतमें अनुप्रवेश करते हैं, इसलिये पार्थिव पदार्थोंमें रसकी पूर्ण उपलब्धि होती है। अर्थात् जो रस जलमें अव्यक्त था, वह पार्थिव पदार्थोंमें पूर्ण विकासको प्राप्त होकर लधुर, अम्ल आदि नामसे प्रकट हो जाता है। अतएव आकाशसे गिरनेवाले जलका पृथिवी आदिके परमाणुओंसे जो सम्बन्ध होता है, वही रसोंके आरम्भका मूल है। सुश्रुताचार्य कहते हैं 'स खल्वाप्यरसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धषड्विधो भवति।' अर्थात् वही आप्य रस जलभिन्नभूतचतुष्टयके (जलके सिवाय अन्य चारों महाभूतोंके) संसर्गसे विदग्ध होकर छः प्रकारका होजाता है।

रसोंके व्यक्ताव्यक्तभेद

जलके अव्यक्त रसमें जब पंचमहाभूतोंका संयोग जनित प्रभाव पड़ता है और सुश्रुतके कथनानुसार जब आप्य रस अन्य महाभूतोंके संसर्गसे विदग्ध होता है, तब रासायनिक संयोग होकर वही अव्यक्त रस व्यक्तरूपमें हो जाता है। अव्यक्त रसमें किसी प्रकारके आस्वादका अनुभव नहीं हो सकता और न उसके भेद ही किये जा सकते हैं; किन्तु व्यक्त होने पर उसकी एकरसता नहीं रह सकती। जब पञ्चमहाभूतोंका उनपर प्रभाव पड़ता है तब जिस जिस महाभूतका जिस प्रमाणमें संयोगीप्रभाव पड़ेगा उसी क्रमसे स्वादमें अन्तर पड़ेगा और वह अन्तर ही रसके भेद बढ़ानेका कारण होगा। आचार्य वाग्भट कहते हैं:—

'तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसम्भवात्।'

अर्थात् संसारी द्रव्य पञ्चमहाभूतोंके संघात सम्भव हैं। महाभूतोंके मेलके कारण उत्पन्न हुए हैं। अतएव पदार्थोंमें एक ही रस नहीं हो सकता; उनका अनेक होना अनिवार्य है। प्रत्येक द्रव्यमें मधुरादि कई रसोंका अनुभव हो सकता है। जैसे मुनक्का, अखरोट, दूध, ऊख, शहद, सिरका आदि पदार्थ यद्यपि मधुर रस प्रधान हैं, तथापि इनमें मधुर रसके पश्चात् कम ज्यादा रूपमें कुछ दूसरे रसका भी बारीक विचारसे देखने पर अनुभव होता है। जैसे मुनक्के और अखरोटमें कुछ खट्टापन, दूध और ऊखमें कुछ लवणरस, सिरकेमें कुछ खट्टा और तिक्तरस और शहदमें कुछ कषाय रस होता है। इसी तरह नींबू और कांजी खट्टे हैं, तथापि इनमें भी कुछ मधुर या क्षारका अंश रहता है। जो प्रधानरस होता है वह जीभमें रखते ही मालूम पड़ जाता है, दूसरे रसका पता कुछ पीछे मालूम पड़ता है। जिस महाभूतका संयोग जिस क्रमसे होगा, रसका आविर्भाव भी उसी क्रमसे कम अधिक होगा। इस प्रकार किसी सूखे या गीले पदार्थके जीभमें रखते ही या खानेके बाद

भी जिस स्वादका अनुभव होता है अर्थात् जो रस स्पष्ट रूपसे पहले जीभको मालूम पड़ता है, वही मुख्य रस है और उसे व्यक्तरस कहते हैं और जो अव्यक्त होता है अथवा जो कुछ देर बाद व्यक्त होता है, उसे अनुरस कहते हैं। इसके बाद स्वादका अनुभव सूखे, गीले, खाने पर अथवा खानेके बाद चारों अवस्थाओंमें नहीं होता। केवल छाया मात्रसे अथवा कार्यमात्रा (कार्य-द्वारा) से वह जाना जाता है। इसीसे वह अनुरस कहाता है। यह कोई सातवां भेद नहीं बल्कि इन्हीं-मेंसे कोई रस जो अव्यक्त रहता है वही अनुरस होता है। अर्थात् रस ही द्रव्य भेदसे अनुरस बनता है।

नैकदोषास्ततो रोगास्तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः।
अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते॥

अर्थात् जैसे एक दोष नहीं है, उसी तरह रोग भी एक नहीं हो सकता। द्रव्य भी एक रसवाले नहीं। किसी द्रव्यमें कोई रस व्यक्त रहता है और कोई अव्यक्त रहता है। जब द्रव्य एक रसवाले नहीं होते तब उनके प्रभावसे उत्पन्न हुए रोग भी एक ही दोषवाले नहीं हो सकते। जिस जिस रसके प्रभावसे जिस क्रमसे जो दोष कुपित होंगे, उसी क्रमसे रोगमें दोषोंकी प्रधानता और अप्रधानता रहती है। इसी तरह जिस रसकी प्रधानता होती है वह व्यक्तरस और जो अल्प प्रमाणमें रहनेके कारण कम जाना जाता है या बहुत पीछे जिसका पता लगता है वह अनुरस कहाता है। जैसे आंवला खानेमें खट्टा मालूम होता है; परन्तु कुछ पीछे अथवा मुँहमें जरा पानी डालनेसे कुछ मिठास भी मालूम पड़ता है; यही मधुरता आंवलेका उपरस अथवा अनुरस है। इसका विवेचन दूसरी तरह भी किया जा सकता है। महर्षि चरक कहते हैं:—

'व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते।
विपर्ययेणानुरसो रसो नास्ति हि सप्तमः॥'

अर्थात् जिस द्रव्यका गीली और सूखी दोनों अवस्थाओंमें उपयोग होता है, उसका सूखने पर जो स्वाद प्रकट होता है वही व्यक्तरस है और जो गीलेपनमें तो स्पष्ट हो; परन्तु सूखने पर वह स्पष्ट न हो वही अनुरस है। जैसे पीपली गीली अवस्थामें मधुर मालूम होती है; परन्तु सूखने पर तिक्तरस वाली हो जाती है। अतएव तिक्तता पीपलीका रस और मधुरता उसका अनुरस है। अंगूरका स्वाद गीले और सूखे होनेपर भी एक ही स्वाद मधुर होता है अतएव अंगूरका रस निर्विवादरूपसे मधुर ही है। कांजी, मट्ठा आदि जिन द्रव्योंमें गीले सूखेका भेद नहीं किया जा सकता, ऐसे पदार्थोंको पहले मुंहमें रखते ही जिस स्वादका अनुभव हो वही उनका

रस और कुछ देर बाद जिस रसका अल्प अनुभव हो वही उनका अनुरस है। इस न्यायसे पीपली कटुरस-प्रधान ठहरती है; किन्तु गीलेपनमें जो उसमें मधुरता है उसके कारण वह कफ और भारीपनको उत्पन्न करती है 'श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी· स्निग्धा च पिप्पली ।' ऐसा हुए बिना वह कफ और गौरव उत्पन्न नहीं कर सकती। अतएव मानना होगा कि गीली पीपलीमें मधुर रस व्यक्त और सूखीमें अव्यक्त है। जैसे व्यक्त रसके मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय छः प्रकार हैं, उसी तरह अनुरसको भी हम तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। (१) अव्यक्तरस जैसे जल का रस अव्यक्त है। (२) अनुरस जैसे आंवलेमें कुछ मिठासका होना। (३) अणुरस अर्थात् किसी पदार्थमें अप्रधानरस इतने अल्प परिमाणमें हो कि उसका पता न लगे। जैसे दूधमें लवण सैकड़ा एक अंशसे भी कम है, अथवा गेहूंमें लवणका अंश सैकड़ा एक हिस्सा है। इस प्रकार रसके आरम्भमें दो भेद व्यक्तरस और अनुरस हुए। इन्हींसे फिर व्यक्तरसके छः भेद हो जाते हैं।

रसान्वेषण

रस कितने हैं, इस विषयपर चरकसंहितामें अच्छा वादविवाद है। यही नहीं, इस विषयके निश्चयके लिये महर्षि आत्रेयके सभापतित्वमें कितने ही ज्ञानवृद्धि, वयो· वृद्ध, तपोवृद्ध और जितेन्द्रिय महर्षियोंका एक कमीशन नियुक्त हुआ था अथवा यों कहिये कि उस समयके आयुर्वेदाचार्यों की शास्त्रचर्चापरिषद हुई थी और उसने चित्ररथवनमें बनविहार करते हुए इस विषयका निर्णय किया था। इस कमीशनके कमिश्नर (अन्य सभासद) महर्षि भद्रकाप्य, शाकुन्तेय, मौद्गल्य, पूर्णाक्ष, कौसिक, हिरण्याक्ष, भारद्वाज, कुमारशिरा, विद्वच्छ्रेष्ट राजर्षि वार्योविद, वैदेहमहाराज निमि, महाराज वडिश, बाल्हीक कुलश्रेष्ठ वैद्य कांकायन थे। विषय था रसद्वारा आहार निर्णय अथवा रसनिश्चयपूर्वक आहारनिश्चय।

सबसे पहले महर्षि भद्रकाप्यने विषय उठाया और प्रतिपादित किया कि पञ्चज्ञा· नेन्द्रियोके जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध विषय हैं उनमेंसे विद्वान् लोग जिसे जिह्वाग्राह्य विषय रस (भाव) कहते हैं वही जलमात्र रस है अर्थात् रस एक ही है। ब्राह्मण शाकुन्तेयने कहा कि रस दो हैं एक छेदनीय अर्थात् अपतर्पण, कर्षण या लंघन अर्थात् कृश करने वाला (लंघन) और दूसरा उपशमनीय तर्पण एवं हृष्टपुष्ट करनेवाला (बृंहण)। मौद्गल्यपूर्णाक्षने कहा कि नहीं रस तीन हैं। एक छेदनीय कृशकारी, दूसरा उपशमनीय बृंहणकारी और तीसरा साधारण अर्थात् सौम्य गुण द्वारा बृंहण करनेवाला और अपने आग्नेयगुण द्वारा लंघन भी करने वाला (जैसे तेल दुर्बलोंको बृंहण करता और स्थूलोंको कृश करता है।) अथवा लंघन या बृंहण दोनों न करने वाला। कौशिकहिरण्याक्षने कहा कि रस चार हैं। एक मधुर अर्थात् जिह्वाके प्रिय स्वाद

और शरीरको हितकर अथवा अभीष्ट होता हुआ हितकारक, दूसरा स्वादु या अभीष्ट होनेपर भी अहितकारक, तीसरा अभीष्ट न होनेपर भी अस्वादु होते हुए भी हितकारक और चौथा अस्वादु अभीष्ट न होकर अहितकारक। भरद्वाजगोत्रीय अथवा भरद्वाजसम्प्रदायी कुमारशिराने कहा कि रस पांच हैं, एक पार्थिव, दूसरा जलीय, तीसरा आग्नेय, चौथा वायवीय और पांचवां आ[illegible]रिक्ष। राजऋषि वार्योविदने कहा कि भारी (गुरु), हलका (लघु), शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे छः रस हैं। वैदेह निमिराजने कहा कि मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय और क्षार ऐसे सात रस हैं। धामार्गव वडिशने कहा कि मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय, क्षार और अव्यक्त ऐसे आठ रस हैं। वाल्हीक वैद्य कांकायनने कहा कि रसके आश्रय भूत द्रव्य, गुण, कर्म और संस्वाद (एक ही मधुरादि रसवाले द्रव्योंका अपना अपना विशिष्ट स्वाद) अनेक होनेके कारण रस भी अनेक हैं। अर्थात् द्रव्य और द्रव्यके आश्रयसे रहनेवाले स्निग्ध, गुरु, रूक्षादिगुण, उनके लंघन-बृंहण-धातुवर्धन आदि कर्म और संस्वाद अर्थात् आवान्तर रसके असंख्य भेदोंके कारण रस भी असंख्य हैं। कांकायनने जो आवान्तर रस कहा वह ऐसा सूक्ष्म और अनिर्वाच्य है कि उसका स्पष्ट निरूपण नहीं किया जा सकता। जैसे एक ही ऊखसे रस, राब, गुड़, खांड़, चीनी और मिश्री बनती है और इन सबोंका स्वाद भी मधुर ही होता है; तथापि रससे राबका अनिर्वाच्य स्वाद कुछ और ही होता है। राबसे गुड़का स्वाद भिन्न होता है, गुणसे खांड़, चीनी और मिश्रीका भी भिन्न ही होता है। प्रत्येक पदार्थको खानेवाला यह तो बतला देगा कि यह चीनी है, यह राब है, यह खांड़ है; परन्तु इनके मिठासमें परस्पर अन्तर क्या है यह नहीं बतला सकेगा। इसीलिये इस स्वादके भेदको संस्वाद अथवा स्वयंसंवेद्य स्वाद कहते हैं। कहा भी है कि 'इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्। भेदस्तथापि नाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते।' कांकायनने जो असंख्य रस कहे उसका कारण यह है कि रस द्रव्यके आधारसे रहते हैं और द्रव्य असंख्य हैं, इसलिये रस भी असंख्य होने चाहिये; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का स्वाद भिन्नता लिये होता ही है। अतएव यह नियम है कि कारणभेदसे कार्यभेद होवे। इसलिये कांकायनने प्रतिपादित किया कि रस असंख्य हैं।

इन सब ऋषियोंकी बातोंको सुन कर भगवान आत्रेय पुनर्वसुने निर्णय करनेके विचारसे इसप्रकार विषयके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया कि मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ये छः रस हैं। इन छहों रसोंकी योनि (उत्पत्ति) जल है। भद्रकाप्यके कथनानुसार जल स्वयं रस नहीं है! बल्कि जल रसोंका आधारकारण और रसकार्यरूप हैं। आधार और आधेय—कार्य और कारण का भेद प्रसिद्ध ही है। रसको जलसे अभिन्न बताना ठीक नहीं है। शाकुन्तेयकथित छेदनीय और उपशमनीय तथा पूर्णाक्षमौद्गल्यकथित छेदनीय, उपशमनीय और साधारण ये तीन

भी रस नहीं हैं। छेदन, उपशमन, साधारणत्व यह रसोंके कर्म हैं, स्वयं रस नहीं। छेदन अर्थात् दोषादिकों को अलग अलग करना। यह शोधन-वमन-विरेचनात्मक है। उपशमन अर्थात् दोषोंको न उभाड़ते हुए समानस्थितिमें रखना 'न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनं तच्च संस्मृतम्।' अर्थात् जो बढ़े हुए दोषोंको निकाले नहीं, विषमको सम करदे; और समान दोषोंको उभाड़े नहीं उसे शमन कहते हैं। जैसे स्वादु, अम्ल, लवणरस वायु को शान्त करते हैं, मधुर, कषाय, तिक्त रस पित्तका शमन करते हैं। और कषाय-कटु-तिक्त कफको शान्त करते हैं। इसलिये कर्षण और बृंहण रसोंकी दो क्रियायें हैं स्वयं रस नहीं हैं। ये दोनों प्रकारकी क्रिया करने वाले द्रव्य एकत्र मिलाने से वह मिश्रण दोनों प्रकारकी क्रिया करने लगता है। अर्थात् उसका साधारणत्व यानी उनमें साधारण कार्ययोगित्व उत्पन्न होता है। साधारणका संगठन आग्नेय और सौम्य सामान्य होता है जिससे वह लंघन और बृंहण दोनों कर्म सम्पादन करता है।

कौशिक हिरण्याक्षने जो स्वादु, अस्वादु, हित और अहित ऐसे चार रस कहे हैं। वह भी ठीक नहीं; क्योंकि जो जिसे चाहता है वह उसके लिये स्वादु है, जो जिसे नहीं चाहता वह उसके लिये अस्वादु अरुचिकर है। इससे निश्चयात्मक रस भेद नहीं हो सकता। इसी तरह हित और अहित रसोंके प्रभाव हैं, स्वयं रस नहीं हैं।

भरद्वाज कुमारशिरा ने पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य और आन्तरिक्ष ये ये पांच रस कहे हैं यह भी ठीक नहीं है। विकाररूप भौम आदि कार्य द्रव्य रसों के आश्रय हैं। ये प्रकृति-विकृति (संस्कार), विचार (द्रव्यान्तर संयोग), देश और कालके अधीन हैं। इनके हेरफेर से बदलते रहते हैं। अतः ये पंचमहाभूत विकार स्वयं रस नहीं हो सकते। पञ्चमहाभूतोंके उत्पन्न द्रव्योंको ही रस कहते हैं। किन्तु ये पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न द्रव्य रसके आश्रय हैं; क्योंकि रस द्रव्यमें ही रहते हैं; अतएव वे स्वयं रस नहीं हैं। किन्तु ये आश्रयभूत द्रव्य हैं। वार्योविद कथित गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये छः रस भी ठीक नहीं है। क्योंकि गुरु, लघु आदि आश्रयभूत द्रव्यमें रहनेवाले गुण विशेष हैं, रस नहीं हैं। अत एव गुरु, लघु आदिके रस होनेमें भी बाधा है। गुरु, लघु आदि द्रव्यके गुणमात्र हैं। द्रव्यके गुण स्वभाव, उनपर किये जानेवाले संस्कार, अन्य द्रव्योंका मिश्रण, उनकी उत्पत्तिकी भूमि, रोगीके शरीर, समय और अवस्था पर अवलम्बित रहते हैं। जैसे मूँग कषाय और मधुर है और स्वभावसे ही हलकी है। रस के कारण नहीं। यदि उसका गुण रसाधीन होता तो 'स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः' इस वचनके अनुसार कषाय और मधुर रसके योगसे वह गुणमें भारी होती। उबाले हुए धानका चिवड़ा उसकी लाई बना देनेसे वह हलकी हो जाती है। सत्तू स्वयं हलका होता

है; परन्तु उसको सानकर तिगरी या पिण्डी रूपमें खानेसे भारी हो जाता है। यह मिश्रणजनित संस्कारके कारण गुण परिवर्तन हो गया। शहद और घी अलग अलग स्वयं अमृत तुल्य हैं, किन्तु दोनोंका संयोग होनेसे वही विषतुल्य हो जाता है। योग्य द्रव्योंके मिश्रणसे कुचिला, सींगिया, अफीम आदि विष द्रव्य अमृतके समान काम करते हैं। स्वयं उष्णवीर्य तेलमें चन्दन, खस आदि शीतवीर्य द्रव्य मिलानेसे वह शीतकारक हो जाता है। स्वयं शीतवीर्य घीमें उष्णवीर्य तगर आदि द्रव्य मिलानेसे वह उष्ण हो जाता है; परन्तु उसी को मांसरसमें पकानेसे वह भारी हो जाता है। ये द्रव्योंका द्रव्यान्तर संयोगके अधीन होनेके उदाहरण हुए। सर्पकी बांबी पर चढ़ी हुई पातालतुम्बी विषनाशक होती है। हिमालयमें होनेवाली वनस्पति बहुत ही गुणकारक होती है। अथवा जांगलदेशकी वनस्पतिसे अनूप-देशकी वनस्पति में भिन्न गुण होता है। यह उत्पत्तिभूमि पर द्रव्योंके गुण अव-लम्बित होने के उदाहरण हुए।

'सक्थिमांसाद् गुरुतरं स्कन्धक्रोडशिरस्पदाम्'

इस वचनके अनुसार जांघकी अपेक्षा कन्धेका, जांघ और कमरके बीचका भाग, मस्तक आदिका मांस अधिक भारी होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्योंका गुण शरीरावलम्बी है। कोमलमूली दोषनाशक है; किन्तु पुरानी या कड़ी होजाने पर वह दोषोंको उभाड़ती है। इसी तरह गर्मीके दिनोंमें जो वनस्पति खोदकर लायी जाय, उसका गुण भिन्न और वर्षा, वसन्त आदिकी ओषधिका गुण भिन्न रहता है। यह द्रव्योंका गुण कालावलम्बी होने का उदाहरण है। विशेष-मात्रा से देनेपर द्रव्यका विशिष्टगुण विदित होता है। यह विचारवश-अन्तर पड़नेका उदाहरण है। अतएव गुरु-लघु-शीत-उष्ण-स्निग्ध और रूक्ष आश्रयभूत द्रव्य के गुण हैं, रस नहीं है।

महाराज विदेह निमिने ऊपर के मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषायके सिवाय सातवें क्षारको भी एक रस माना है। पहले छः तो रस अवश्य हैं, परन्तु क्षार रस नहीं है। 'क्षरणात् क्षारः' यह क्षारकी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है। अर्थात् वह दुष्ट त्वचा—मांसादिको चालनकर नीचे लाता अथवा निकाल बाहर करता है। सुश्रुत कहते हैं कि 'तत्र क्षरणात् खननाद्वा क्षारः इति' अर्थात् जो दुष्ट त्वचा-मांसादिको निकाले अथवा उन्हें खनकर नाश कर दे उसे क्षार कहते हैं। इसलिये क्षार द्रव्य है रस नहीं। रस गुण होनेके कारण निष्क्रिय होता है; क्षार अनेक रस वाले द्रव्योंसे बनता है। अतः अनेक रसवाला कटु एवं लवण रसकी अधिकता वाला है। रस का ग्रहण रसनेन्द्रियसे ही होता है; किन्तु क्षारका जिह्वाके अतिरिक्त स्पर्श आदिसे भी ग्रहण होता है। क्षार विशिष्ट क्रियाद्वारा तैयार किया जाता है। रसमें यह

सब नहीं होता अतएव क्षाररस नहीं है। किन्तु द्रव्य है। इसीसे कहते हैं क्षार बड़े जोरकी निस्सारण क्रिया करता है। कहा है:—

'छित्वा छित्वाऽऽशयात्क्षारः क्षारत्वात्क्षारयत्यधः।'

इसप्रकार क्षार अपामार्ग, पीपर, पलाश, जव, मोखा आदि भिन्न भिन्न रसके द्रव्योंसे क्षार बनता है। इससे उस उस वनस्पतिके गुण उसमें आते ही हैं; क्योंकि कार्य में कारणके गुण आने ही चाहिये। क्षारमें कोई अलग स्वाद नहीं, जिस पदार्थका क्षार हो उसका रस उसमें आता है। विशेषकर कटु और लवण रसकी अधिकता उसमें मालूम होती है। अर्थात् उसमें अनेक रसत्वदोष है। सुश्रुत कहते हैं कि-क्षार सफेद होता है, अतएव वह सौम्य है। रस रसके आश्रयमें नहीं रह सकता और न उसमें शब्द, स्पर्शादि गुण ही होते हैं। ये गुण रसमें नहीं द्रव्यमें ही होते हैं। चरकमें लिखा है—'गुणा गुणाश्रया नोक्ताः' अर्थात् गुण गुणके आश्रयमें नहीं रहता। वह क्रियाद्वारा सिद्ध होता है अर्थात् क्षार कृत्रिम है और रस स्वाभाविक सहज है। इससे सिद्ध हुआ कि क्षार रस नहीं द्रव्य ही है।

धामार्गववडिश—मधुर-अम्ल-लवण-तिक्त-कटु-कषाय-क्षार और अव्यक्त ऐसे आठ रस कहते हैं। क्षारके विषयमें लिखा जा चुका है, अब रहा अव्यक्तरस, सो अव्यक्तीभाव, अव्यक्तता अथवा अस्पष्टता छः रसोंके अतिरिक्त कोई भिन्न रस नहीं, बल्कि मधुरादि व्यक्त रसोंके आधार पर उन्हींमेंसे किसी एक रसकी अव्यक्त विशिष्टता होती है। इसके तीन रूप हो सकते हैं—१ अव्यक्तरस, २ अनुरस, ३ अणुरस। जिह्वाके द्वारा जब यह न जाना जा सके कि इसमें मिठास, अम्लत्व आदिमेंसे क्या है, उसे ही अव्यक्तरस जानो जैसे पानीका स्वाद। जो मूलरसके पश्चात् कुछ देरमें जाना जा सके उसे अनुरस कहते हैं। जैसे आँवलेके खट्टेपनके बाद मिठासका मालूम होना। इन छहों रसोंकी अव्यक्ततामें उनकी जो मूल प्रकृति—अर्थात् कारण जल उनमें रहता ही है। मधुर आदि विशिष्ट भेदशून्य सब रसोंकी जो सामान्य उपलब्धि अव्यक्तता है वह जलमें ही रहती है। सुश्रुतने पानीका गुण कहते हुए लिखा है—'व्यक्तरसता रसदोषः' इसीमें आगे चलकर कहा है कि-'अव्यक्तरसश्च'। व्यवहारमें भी कोई पिचपिचा रसशून्य पदार्थ खावें तो कहते हैं कि यह तो बेस्वाद पानीकासा था। जैसे कोई पदार्थ अधिक दूरसे देखा जाय तो उसका सामान्य रूप दिखाई पड़ता है; किन्तु उसका रंग, आकार आदि स्पष्ट नहीं होता। इसी तरह अव्यक्त रसमें सब रसोंके सामान्य अति सूक्ष्म भाग रहते हैं इसीलिये वे व्यक्त नहीं होते। दूसरे इस रसका अव्यक्तीभाव अनुरसमें होता है। पहले एक मुख्य और स्पष्टरसका अनुभव होता है, फिर पीछे उसके अन्तर्गत रहनेवाले दूसरे आवान्तर रसका अनुभव होता है, उसे ही अनुरस कहते हैं। ऐसे बहुतसे पदार्थ

हैं जो आरम्भमें मीठे और चबानेके बाद कषाय अथवा कटु मालूम पड़ते हैं। जैसे बांसका जब आरम्भमें मीठा और अनुरसमें कषाय होता है। तीसरे अव्यक्तीभावका आश्रयस्थान अनुरस अथवा अणुरसयुक्त द्रव्य है। अनुरसयुक्त द्रव्य जैसे विष, इसमें सभी अनुरस रहते हैं। उसके वर्णनमें कहा है, 'उष्णमनिर्देश्यरसम्' अतएव विषका कोई निश्चित रस नहीं कहा जा सकता। अणुरसवाले द्रव्य कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी प्रधान रसवाले द्रव्यमें जो अल्प प्रमाण रस रहता है वही अणुरस है। जैसे एक मन खीरमें दो दाने काली मिर्च पीसकर डाल दें तो उसकी कटुता खीर खाते समय समझमें नहीं आवेगी। इतने पर भी दो मिर्चोंकी तिक्तता उसमें है ही; किन्तु बहुत कम होनेके कारण अनुभवमें नहीं आती। अतएत अव्यक्तीभाव छः रसोंसे भिन्न रस नहीं है। बल्कि उन्हींमेंसे किसी रसकी अति सूक्ष्म परिमाणसे अस्पष्ट अनुभूति ही अव्यक्तीभाव है।

अब रहा कांकायनका असंख्यरसका पक्ष। द्रव्य-गुण—कर्मके संस्वादके असंख्य भेदके कारण तदाश्रित रसोंको भी असंख्य माननेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि उक्त सम्पूर्ण द्रव्योंके असंख्य भेदोंमें मधुर आदि छः रसोंमेंसे ही कोई न कोई रस रहता है। इसलिये द्रव्यादि आश्रयभूत वस्तुओंके भेदसे मधुर आदि आश्रित रस भिन्न नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ चावल, मूंग, घी, दूध, चीनी इत्यादि मधुर रसोंके आश्रित द्रव्य भिन्न-भिन्न अनेक हैं। किन्तु इन सभोंमें जो मधुर रस है वह एक ही है। जैसे बगुला, दूध और कपास इन तीनों मिश्रित वस्तुओंके सफेद रङ्गकी जाति एक ही है। इसी तरह भारी, लिलबिला, स्निग्ध गुण रस—रक्तादि धातुओंको बढ़ाना, आयुष्यस्थापन करना और रङ्ग खिलाना आदि मधुररसयुक्त द्रव्योंके कर्म भिन्न हों तो भी मधुर रसके एक होनेमें बाधा नहीं आती। क्योंकि एक ही मधुर रस उन गुणोंसे युक्त उन कर्मोंको करता है। इसी प्रकार एक रसके आवान्तरभेद कितने ही हों तोभी उनका समावेश प्रधान रसमें ही होता है। काले रङ्गके जो आवान्तर भेद होते हैं, उन सबका समावेश काले रङ्गमें ही तो होता है? इसी तरह रसके आवान्तर भेद कितने ही हों तोभी मुख्य रसकी जातिका अतिक्रम नहीं होता। इस पर यह सन्देह हो सकता है कि इस प्रकार यदि रसोंकी अनेक संख्या सिद्ध न हो तोभी रसोंके परस्पर संयोगसे संख्याधिक्य होना ही चाहिये। क्योंकि दो रस एकत्र मिलानेसे जो विशिष्ट स्वाद उत्पन्न होता है, वह कार्य भी विशिष्ट करता है। मधुर और अम्ल इन दो रसोंके मिश्रणसे जो संयुक्त कार्य होता है, वह अकेले मधुर अथवा अम्लरससे नहीं हो सकता। अतएव परस्पर संयोगके कारण रसोंका असंख्येयत्व मानना ही चाहिये। किन्तु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि संसर्ग होने परभी प्रत्येक रसके गौरव-लाघवादि

गुण और आयुष्य बढ़ानेवाले, धातु बढ़ानेवाले आदि उनके कर्म नहीं बदलते। केवल प्रत्येक रसके भिन्न-भिन्न गुण मिश्रित हो जाते हैं। जैसे वातादि दोषोंके अनेक संसर्ग हों तोभी उनकी तीन संख्या नहीं बढ़ती, उसी तरह रसोंके मिश्रणसे भी छः नियत संख्या नहीं बढ़ सकती। इसीलिये शास्त्रमें मिश्रित रसोंके अलग गुण-कर्मोंका विवेचन नहीं हुआ।

रसोंकी प्रकारसिद्धि

ऊपर लिखी हुई रसपरिषद्में जो छः रसोंकी संख्या निर्धारित हुई, वही आयुर्वेदजगतमें अब तक मान्य समझी जाती है। इनकी प्रकारसिद्धि अब दरशाते हैं। इस प्रकार जलतत्त्व प्रधान (जल जिसकी योनि अर्थात् उत्पत्तिका मूल कारण है) जलका अव्यक्त रस पञ्चमहाभूतोंके संयोगसे व्यक्तरसकी उत्पत्ति होती है। अन्तरिक्षसे सौम्य जल प्रकृतिगत शीत, लघु और अव्यक्तरस रहता है। नीचे भूमिपर गिरकर पञ्चमहाभूत-गुणसमन्वित जङ्गम-स्थावर मूर्तियोंको (व्यक्तियोंको) तृप्त करता है, प्रसन्न करता है। उन्हीं मूर्तियों अर्थात् द्रव्योंसे छः रस मूर्च्छित हो उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति बनते हैं। अर्थात् पञ्चमहाभूतोंके परस्पर मिलनेसे जो रासायनिक क्रिया होती है उसीसे रसोंकी प्रकारसिद्धि होती है। साधारण विचारसे यही मालूम पड़ता है कि जब पांच महाभूत हैं तब पांचही रस भी होने चाहिये; परन्तु याद रखना चाहिये कि यद्यपि प्रत्येक रसमें कम-अधिक परिमाणमें पांचों महाभूत रहते हैं, तथापि मुख्य दो-दो तत्त्वोंके मेलसे एक-एक रसकी उत्पत्ति होती है। इसमें भी एक तत्त्व प्रधान और दूसरा अप्रधान रहता है। जिस तत्त्वकी प्रधानता होती है उस रसमें वही विशिष्टता उत्पन्न करता है। इतना होने पर भी आधार कारण रूपसे जलतत्त्व सभी रसोंमें रहता है। जलमें अन्य तत्त्वोंकी रासायनिक क्रिया न होकर रससिद्धि होती है। आचार्य वाग्भटने संक्षेपमें खूबीके साथ रसोंका उत्पत्तिक्रम दर्शाया है:—

> क्ष्माम्भोऽग्निक्ष्माऽम्बुतेजःखवाय्वग्न्यनिलगोऽनिलैः।
> द्वयोल्बणैः क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः॥

अर्थात्-भूमि और जल तत्त्वकी अधिकतासे मधुर रस की उत्पत्ति हुई। अग्नि और पृथ्वी तत्त्वकी प्रधानतासे अम्ल रस की उत्पत्ति हुई। सुश्रुतके मतसे जल और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे अम्लरसकी उत्पत्ति हुई। जल और अग्नितत्त्वकी अधिकतासे लवणरस की उत्पत्ति हुई। सुश्रुतके मतसे पृथ्वी और अग्निगुणोंकी अधिकतासे लवणकी उत्पत्ति हुई। किसी-किसी आचार्यने पृथ्वी और अग्नितत्त्वकी अधिकतासे लवणरसकी उत्पत्ति मानी है। इससे कुछ कार्यमें विरोध नहीं आता; क्योंकि पृथ्वी

और जल दोनों सौम्य होनेके कारण एकरूप ही हैं । हां, यह शंका अवश्य हो सकती है कि जल तो ठण्डा और अग्नि उष्ण है । इन दोनों भिन्न धर्मके महाभूतोंसे उत्पन्न लवणरसमें ये दोनों धर्म होने चाहिये थे । किन्तु इसके विरुद्ध लवणमें केवल उष्ण गुण है। इसका समाधान यह है कि इन महाभूतोंका स्वभाव ही ऐसा है कि वे विशिष्ट संयोगमें कोई दूसरा विशिष्ट गुण प्रकट करते हैं। अपने अन्तर्गत सभी गुण सभी स्थानोंमें नहीं दिखलाते । रासायनिक संयोगमें प्रायः ऐसा हुआ ही करता है । दो पदार्थोंके संयोगसे जो तीसरा पदार्थ तैयार होता है वह दोनोंके गुणधर्म अपनेमें नहीं रखता कभी-कभी वह भिन्नगुण वाला भी होता है। सोठधान्यमें जलके कारण केवल मधुरता आयी; परन्तु स्निग्धता नहीं आ सकी । सैंधव नमकमें स्वयं अग्निने भी उष्णता नहीं उत्पन्न की । इसे कहते हैं महाभूतोंका अदृष्टप्रभाव । इसमें प्रत्यक्ष कार्य देखकर कारणका अनुमान करना चाहिये। जैसे लवणरसमें उष्णता है अतएव अग्नितत्त्वकी; और सितलाने—पसीजनेका धर्म है अतएव जलतत्त्वकी विद्यमानताका अनुमान किया जाता है । आकाश और वायुतत्त्वकी अधिकतासे तिक्तरस की उत्पत्ति हुई । अग्नि और वायुतत्त्वकी प्रधानतासे कटुरसकी उत्पत्ति हुई । पृथ्वी और वायुतत्त्वकी प्रधानतासे कषायरस की उत्पत्ति हुई । चरक (सू. अ. २६) में लिखा है:—

'तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तात्तिक्तः, पवनपृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति ।'

इसका मतलब यह है कि-जिन द्रव्योंमें पृथ्वी और जलके गुणकी अधिकता होगी वे पदार्थ मधुर होंगे । जिनमें पृथ्वी और अग्नितत्त्वके गुणोंकी अधिकता होगी वे खट्टे होंगे । जिनमें जल और अग्नितत्त्वके गुणोंकी अधिकता होगी वे नमकीन, जिनमें अग्नि और वायु तत्त्वके गुणोंकी अधिकता होगी वे कटुरसवाले होंगे । जिनमें आकाश और वायुतत्त्ववाले गुणोंकी अधिकता होगी वे तिक्त होंगे और जिनमें पृथ्वी और वायुके गुणोंकी अधिकता होगी वे कसैले होंगे । जलका अव्यक्तरस जो पृथ्वीमें व्यक्त होता है वही व्यक्तरस पृथ्वीके जलका गुण है । जल और पृथ्वीको छोड़कर शेष तीन भूत नीरस हैं; किन्तु वे रसविशेषकी उत्पत्तिके कारण होते हैं। यदि उनमें यह उत्पादनशक्ति न होती तो सभी द्रव्य मधुररस विशिष्ट होते। इसीसे महर्षि चरक कहते हैं:—

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ॥

यहां दो चकार होनेसे यह बात स्वीकृत होती है कि पृथ्वी और जलमें रसोत्पादनशक्ति है। नहीं तो मधुररसकी उत्पत्तिकी भी सम्भावना नहीं रहती। जल और अग्निगुणकी अधिकतासे अम्लरसकी उत्पत्ति होने पर भी उष्ण जलमें अम्ल रसका उद्भव नहीं होता। उसका यह कारण है कि भूतसंसर्गमात्रसे ही रसविशेषकी उद्भावना नहीं होती। किन्तु उसके लिये विशिष्टपरिणतिकी अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार मिट्टीके ढेलेको आगपर तपानेसे उसमें पृथ्वी और अग्नि गुणकी अधिकता होनेपर भी लवणरसकी उद्भावना नहीं होती। सोचनेकी बात है कि जल और वायुगुणकी अधिकतासे तथा पृथ्वी और आकाश गुणकी अधिकतासे रसकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती? इसका कारण खोजनेसे विदित होगा कि द्रव्यस्वभाव ही रसोत्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता। परस्पर विरुद्धगुणविशिष्ट भूत परस्पर मिलकर रसोत्पादनरूपी एक कार्य उत्पादन कर सकते हैं। इसमें भी द्रव्यस्वभाव ही कारण माना जायगा।

रसोंका रसान्तर

रसवैशेषिक सूत्रमें कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि कोई द्रव्य एक स्थानमें कुछ समय तक रखा रहे तो उसके रसमें रसान्तर हो जाता है, परिवर्तन हो जाता या यों कहिये कि उस रसका अन्यथाभाव हो जाता है। उसके कई उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

'अन्यथात्वगमनं स्थानात्'

अर्थात् जब किसी रसका अवस्थानके कारण रसान्तर परिवर्तन होता है तब उसे रसका अन्यथात्वगमन कहते हैं। अन्यथात्वगमनका अर्थ है उसमें अन्य आस्वादका आजाना। स्थानका अर्थ यहाँ कुछ समय रक्खा रहना है। जैसे चावलका भात मधुररसवाला होता है; किन्तु उसमें पानी मिलाकर कुछ दिन रखा रहने दें तो उसमें मधुरताके बदले अम्लता आ जाती है और उसका नाम कांजी हो जाता है। स्थानका अर्थ यदि पात्र लें तो पात्रविशेषसे भी रसान्तर होना सम्भव रहता है। जिस बर्तनमें अम्ल पदार्थ रहा हो उसमें यदि दूध रख दिया जाय अथवा दूधमें अम्लरस पड़ जाय तो वह दूध फट जायगा और उसका आस्वाद अम्ल हो जायगा। एक सूत्र है—

'संयोगतः, अग्नेः पाकात्'

जिसका यह अर्थ है कि संयोगसे अर्थात् अन्य द्रव्यके मिलानेसे भी रसान्तर होता है। जैसे इमलीके खट्टे फलोंमें यदि चूना मिला दिया जाय अथवा राख मिला दी जाय तो इमलीका खट्टापन जाता रहता है और उसमें मधुरता आ जाती है। इसी तरह अग्निमें पाक होनेसे भी रसपरिवर्तनकी सम्भावना रहती है।

जैसे इमलीके फल आगमें पकाये जायँ तो उनका अम्लत्व जाता रहता है और मधुरत्व आ जाता है। यदि खट्टी जामुनके फल आगमें पकाकर खुली हवामें रख दिये जायँ तो वे मीठे हो जाते हैं। यही 'आतपात्' अर्थात् आतप या सूर्यकी धूपमें द्रव्योंको रख देनेसे रस बदल जाता है। जैसे तुम्बरु (तेजबल) के फल कषाय होते हैं किन्तु उन्हें धूपमें रखकर सुखाया जाय तो उनमें मीठापन आ जाता है। एक और सूत्र है—

'भावनया, देशकालाभ्याम्'

अर्थात् भावनाके प्रभावसे भी द्रव्यके रस बदल जाते हैं। जैसे कषाय-तिक्त और मधुररस वाले तिलोंको मुलेठीके क्वाथकी भावना देनेसे वह मधुर हो जाता है। 'देशकालाभ्याम्' कहनेसे विदित होता है कि देशभेदसे रसमें अन्तर पड़ जाता है। काशीके आंवले अन्यत्रसे अधिक मधुर होते हैं। प्रयागके अमरूद अन्यत्रके अमरूदोंसे अधिक मीठे होते हैं। लखनऊके खरबूजे अन्यत्रके खरबूजोंसे मधुरतामें विशेषता रखते हैं। जब देहरादूनकी लीचियोंमें कुछ तुरसीपन रहता है तब मुजफ्फरपुरकी लीची अधिक मीठी होती है। कालभेदसे भी रसपरिवर्तन सम्भव रहता है। केलेके फल यों कषाय रहते हैं, किन्तु कुछ दिन रखे रहनेसे उनमें मधुरता आ जाती है। आगे सूत्र है—

'परिणामतः'

अर्थात् परिणामसे रसमें परिवर्तन होता है। जैसे दूध मधुर है; किन्तु दूध जमाकर दही बनानेसे वह खट्टा हो जाता है। इसी तरह आसव बनानेसे जो द्रव्योंमें परिणाम होता है उससे रसपरिवर्तन हो जाता है। कटहरका पका फल मीठा होता है; परन्तु वह अधिक समय तक रखा रहे तो पिचपिचा होकर खट्टा हो जाता है। ताड़का फल भी रखा रहनेसे खट्टा हो जाता है। खजूर या ताड़की ताड़ी ताजी पीनेसे वह 'नीरा' कहलाती और मधुर रहती है; किन्तु कुछ घण्टेके पश्चात् वह खट्टी हो जाती है।

'उपसर्गतः'

अर्थात् उपसर्गसे कीड़े आदि पड़नेसे रसका परिवर्तन होता है। यों ऊख या गन्ना मीठा होता है किन्तु यदि उसमें कीड़े लग जायँ तो उसका स्वाद तिक्त या अम्ल हो जाता है।

'विक्रियातः'

अर्थात् विपरीत क्रियाविशेषसे रसमें बदलाव होता है। विरुद्ध क्रियाको विक्रिया कहते हैं। उदाहरणार्थ ताड़फलको भूमिपर भूनकर रखनेसे उसका स्वाद तिक्त हो जाता है। यही क्यों कटहरके फलको हाथसे दबानेसे उसमें अम्लता आ जाती है।

इस प्रकार अवस्थान, संयोग, अग्निपाक, आतप, भावना, देशकाल, परिणाम, उपसर्ग और विक्रिया द्वारा द्रव्योंके रसमें परिवर्तन हो जाता है।

रसोंकी पहचान

रसोंकी पहचान या रसोंकी उपलब्धि मुख्य तो जीभपर रखकर चखनेसे होती है; किन्तु ऐसे बहुतसे द्रव्य हैं जिनका चीखना उचित नहीं होता। अपरिचित विषद्रव्य या निकृष्ट द्रव्योंका रस अनुमानसे उनके लक्षण समझकर निश्चय करना चाहिये। तीसरा उपाय उपदेश या आगम अर्थात् शास्त्रवर्णनसे करना चाहिये। नीबूके अम्लरसका ज्ञान प्रत्यक्ष चखकर जाना जायगा किसी अपरिचित द्रव्यमें यदि चीटियां लगती हों, मक्खियां बैठती हों तो अनुमानसे समझ ले कि इसका रस मधुर होगा। मधुका कषायरस शास्त्रोल्लेखसे समझना होगा। सुवर्णके कषाय और मधुररसका निर्णय भी शास्त्रवचनसे होगा। उसके कार्य देखकर अनुमानसे भी होगा।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रस अलगसे पहचानमें आनेवाला द्रव्य नहीं है। जिस द्रव्यके आश्रयमें जो रस रहता है, उस द्रव्यके द्वारा ही उसकी पहचानकी जा सकती है। किसी पदार्थको चीखने तथा ऊपर लिखे उपायोंसे उसके रसका निर्णय किया जा सकता है। अतएव समझनेकी सुविधाके लिये प्रत्येक रसके लक्षण नीचे लिखे जाते हैं।

मधुररस—

स्नेहनप्रीणनाल्हादमार्दवैरुपलभ्यते।
मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवंल्लिम्पतीव च॥

अर्थात् मधुररस वाले पदार्थ चिकने और स्निग्धगुण वाले होते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियोंको प्रसन्न करते हैं। इसके सेवनसे आह्लाद उत्पन्न होता है। यह शरीरको कोमल बनाता है। मुँहमें रखते ही सारे मुँहमें फैलकर लिपलिपापन उत्पन्न करता है, मुखमें मिठास भर देता है। सुश्रुताचार्य कहते हैं 'तत्र यः परितोषमुत्पादयति प्रह्लादयति तर्पयति जीवयति मुखोपलेपं जनयति श्लेष्माणं चाभिवर्धयति स मधुरः।' अर्थात् मधुररस तृप्ति उत्पन्न करता है, सन्तोष और आनन्द पैदा करता है, यह जीवनीशक्ति बढ़ानेके लिये प्रधान उपयोगी है। इसके सेवनसे मुखमें चिपचिपाहट होती है। यह कफको बढ़ानेवाला है। रसवैशेषिकमें गलेको तृप्त करनेवाला-कण्ठ्य और हृदयको हितकारी हृद्य भी कहा गया है। आचार्य वाग्भटने एक बहुत सीधी परीक्षा बतायी है—'प्रियः पिपीलिकादीनाम्' अर्थात् मधुररस चीटियोंको बहुत प्रिय होता है। जिस पदार्थमें चींटियाँ ज्यादा लगें उसे मधुररस

वाला जानो। मधुमेहमें पेशाबके साथ शकर जाती है या नहीं इसके लिये चींटियों का लगना एक साधारण परीक्षा है।

अम्लरस—

दन्तहर्षान्मुखास्रावात् स्वेदनान्मुखबोधनात्।
प्राश्यैवाम्लरसं विद्याद्विदाहाच्चास्य कण्ठयोः॥

जिस रसको मुँहमें रखते ही चीखते ही दन्तहर्ष होता है अर्थात् दाँत सिहरते हैं, मुंहमें पानी छूटता है, पसीना छूटता है, मुंहमें एक प्रकारकी तेजी आती है अथवा मुंहका शोधन और क्षालन (सफाई) होता है और मुंह और गलेमें एक प्रकारकी जलन या चुनचुनाहट पैदा होती है, उसे अम्लरस समझना चाहिये। वृद्ध वाग्भटमें छाती जलनेकी भी बात लिखी हुई है-'उरःकण्ठं विदहतीति'। सुश्रुतमें यह भी लिखा है कि इसके सेवनसे भोजनकी रुचि अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न होती है 'श्रद्धां चोत्पादयति'। वाग्भट इसे कुछ और साफ बतलाते हैं 'हर्षणो रोमदन्तानाम-क्षिभ्रुवनिकोचनः' अर्थात् दन्तहर्षके सिवाय इससे रोमहर्ष भी होता है। अर्थात् रोवें खड़े होते हैं, आंखों तथा भौंहोंका संकोच होता है।

लवणरस—

प्रलीयन् क्लेदविष्यन्दमार्दवं कुरुते मुखे।
यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च॥

जो रस मुंहमें रखते ही जायका लेते ही मुंहमें घुलने लगता है और मुंहको गीला कर देता है, जिससे पनछा छूटता और लार गिरती है अर्थात् जो विष्यन्दी है, जो कोमलता लाता है और मुंह में जलन उत्पन्न करता है उसे लवण रस जानो वृद्धवाग्भट में लिखा है 'लवणो मुखं विष्यन्दयति, मुखस्य कण्ठस्य विदाहाच्चापि, कण्ठकपोलं विदहति, अन्नं प्ररोचयति'। अर्थात् लवण रससे मुखमें रसका स्राव होने लगता है। मुख और कण्ठमें दाह होता है और कपोल जलते हैं। सुश्रुत कहते हैं—'यो भक्तरुचिमुत्पादयति, कफप्रसेकं जनयति, मार्दवं चापादयति स लवणः।' अर्थात् जो भोजनमें रुचि उत्पन्न करता है, कफको गलाकर निकालता है और मृदुता उत्पन्न करता है वह लवण रस है।

कटुरस—

संवेजयेद्यो रसनं निपाते तुदतीव च।
विदहन् मुखनासाक्षि-संस्रावी स कटुः स्मृतः॥

जो रस जीभमें लगते ही जीभको उद्विग्न कर देता है, जीभमें चुन-चुनाहट मालूम होती है। मुँह, आँख और नाकमें जिसके खानेसे जलन होती है

और मुंह, आँख और नाकसे पानी गिरने लगता है। उसे कटुरस जानना चाहिये। सुश्रुत कहते हैं :—'यो जिह्वाग्रे बाधते, उद्वेगं जनयति; शिरो गृह्णाति, नासिकां च स्रावयति स कटुकः'। अर्थात् जो जीभके अगले भागमें चुनचुनाहट पैदा करता है, मनमें बेचैनी पैदा करता है, उद्वेगके कारण शिर जकड़ासा मालूम पड़ता है और जिसके सेवनसे नाकसे पानी गिरता है वह कटुरस है। अष्टाङ्गसंग्रहकार लिखते हैं—'कटुको भृशमुद्वेजयति जिह्वाग्रे चिमचिमायति कण्ठकपोलं, स्रावयति मुखाक्षिनासिकं, विदहति देहम्' अर्थात् जिह्वाके अगले भागमें कटुरसके लगते ही उद्वेग उत्पन्न करता है, सुई चुभनेके समान चुभन, जलनके साथ मुख, नाक, आंखोंसे पानी गिरना आरम्भ होता है।

तिक्तरस—

प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च।
स तिक्तो मुखवैशद्य-शोष-प्रह्लादकारकः॥

जिस रसको मुँहमें रखने पर मुखपर निपात होते ही रसनेन्द्रिय (जीभ) की आस्वादशक्ति मारी जाती है, अर्थात् अन्य रसका ज्ञान नहीं हो सकता, रुचि बिगड़ जाती है। जो मुँहको स्वच्छ करता है, जिससे मुँह सूखता है और अन्तमें मुँहकी अरुचि नष्ट होती है उसे तिक्तरस (तीतारस) जानो। सुश्रुत कहते हैं—'यो गले चोषमुत्पादयति, मुखवैशद्यं जनयति, भक्तरुचिं चापादयति, हर्षं च स तिक्त इति।' इसमें दो बातें अधिक हैं अर्थात् इसके सेवनसे मुंहमें खिंचावट (आकर्षण) पैदा होती है। और हर्ष अर्थात् रोमहर्ष (रोमांच) होते हैं। अष्टांगसंग्रहकार कहते हैं 'तिक्तो विशदयति वदनं, विशोधयति कण्ठं, प्रतिहन्ति रसनाम्'। अर्थात् तिक्तरस मुखका लिपलिपापन दूर कर स्वच्छ कर देता है। कण्ठके उपलेपको भी नष्ट कर कण्ठ खोलता है और जीभकी अन्यरस ग्रहण करने की शक्तिको नष्ट कर देता है। अर्थात् तिक्तरस खानेके बाद फिर अन्य रसका स्वाद नहीं मालूम पड़ता।

कषायरस—

वैशद्यस्तम्भ-जाड्यैर्यो, रसनं योजयेद्रसः।
बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि॥

जिस रसके सेवन करनेसे जीभ साफ होती है, जिह्वास्तम्भ होता है अर्थात् जीभ जकड़ीसी मालूम पड़ती है, जीभ भारी पड़ जाती है अर्थात् जिह्वाका रसज्ञान यथार्थ रूपसे नहीं हो पाता है, गला बैठासा मालूम पड़ता है और जो विकासी है अर्थात् जिसके सेवनसे हृदयमें पीड़ासी होती है, उसे कषायरस समझना चाहिये। विकासी की परिभाषा है-'विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोचयते' अर्थात् जठराग्नि के द्वारा पाक होनेके पहले ही जो द्रव्य धातुओं को ओजसे विभक्तकर सन्धियोंके

बन्धनोंको शिथिल करता है उसे विकासी कहते हैं। जैसे कच्ची सुपारी, कोदोधान्य। ओजका स्थान हृदय है। ओजका विश्लेषण होनेसे हृदयमें पीड़ासी होनी ही चाहिये। सुश्रुत कहते हैं—'यो वक्त्रं परिशोषयति, जिह्वां स्तम्भयति, कण्ठं बध्नाति हृदयं कर्षति पीडयति च स कषायः।' चरकके विकासी शब्दको इसमें खोल दिया गया है, अर्थात् इसके सेवनसे हृदयमें खींचनेकी सी–कचोटनेकी सी खिंचावट मालूम होती है और कुछ दर्द भी होता है। आचार्य वाग्भट कहते हैं–'कषायो जड-येज्जिह्वां कण्ठस्रोतोविबन्धकृत्'। इसमें गला बैठनेकी मीमांसा साफ कर दी गयी है अर्थात् इसके सेवनसे कण्ठाश्रित स्रोतसों का विबन्ध हो जाता है; जिससे श्वास-रोगके समान हंफरीके साथ सांस चलती है।

रसोंकी कार्यशक्ति

पञ्चमहाभूतोंके रासायनिक संसर्गसे उत्पन्न होनेवाले इन रसोंमें कुछ साधारण कार्यशक्ति विशेष रूपसे उत्पन्न होती है। जिन जिन तत्त्वोंके मेलसे जो रस बनता है उसमें अपने उपादानतत्त्वके अनुकूल और कुछ भिन्न गुण-कर्म रसोंमें अवश्य होते हैं। विरुद्ध महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न दोषोंका क्षय और समान महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न दोषोंकी वृद्धिको देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह रस अमुक महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न हुआ है। जैसे मधुर रससे आप्य कफकी वृद्धि और आग्नेय पित्तका क्षय होता है अतः मधुर रस पृथ्वी और जलकी अधिकतासे हुआ। उनका संक्षिप्त निर्देश इसलिये किये देते हैं कि तदनुरूप ही उनमें कार्य करनेकी शक्ति होती है। चरकसंहिताके आत्रेयभद्रकाप्यीय अध्यायमें लिखा हुआ है:—

'तत्राग्निमारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः। लाघवादुत्प्लवनत्वाच्च वायोः। ऊर्ध्वं ज्वलनत्वाच्च वह्नेः। सलिलपृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभा-गभाजः। पृथिव्या गुरुत्वात्, निम्नगत्वाच्चोदकस्य। व्यामिश्रात्मकाः पुन-रुभयतो भाजः।' (च. सू. अ. २६)

इन रसोंमें अग्नि और वायुतत्त्वकी अधिकतासे उत्पन्न होनेवाला कटुरस हलका होता है। अर्थात् कटुरसवाले पदार्थ हलके होनेके कारण ऊर्ध्वगामी होते हैं। उन्हें सेवन करनेसे वे दोषोंको ऊपर उठाते हैं। इसलिये कटुरसवाले पदार्थोंसे प्रायः (हरहालतमें सभीसे नहीं) वमनक्रिया सम्पादित होती है। जैसे मैनफल, राई आदि। इसका तात्पर्य यह है कि वायु गमनशील है और स्वरूपतः हलका भी है; इसलिये उसकी गति ऊपरी भागकी ओर होती है। जैसे सेमलका भुवा हवाकी हिलोरोंके साथ ऊपर ही ऊपर उड़ा करता है। अग्नि भी ऊर्ध्वगामी है; क्योंकि

अग्निकी लपटें भी ऊपरकी ओर ही उठा करती हैं। इसीलिये अग्नि और वायुतत्त्ववाले पदार्थोंमें ऊर्ध्वगामीशक्ति होती है। पृथ्वी और जलतत्त्वसे उत्पन्न होनेवाला मधुर रस स्वभावतः भारी होता है। भारी पदार्थ यदि ऊपरको फेंके भी जायँ तो शीघ्र नीचे चले आते हैं। जल भी निम्नगामी है, जलकी धारा सदा नीचेकी ओर ही बहती है। अतएव पृथ्वी और जलतत्त्ववाले पदार्थ अधोगामी होते हैं जैसे—पत्थर, मिट्टीका ढेला आदि; और उनसे प्रायः विरेचनकी क्रिया सम्पादित होती है। जैसे अंगूर, अंजीर, मुनक्का, रेंडीका तेल आदि। किन्तु मधुर पदार्थ स्निग्ध होनेके कारण कफको बढ़ाते और पित्तको शान्त करते हैं और विरेचनकी क्रिया प्रायः पित्तके द्वारा ही सम्पादित होती है; इसलिये मधुर पदार्थ प्रायः तीव्र विरेचनकारी नहीं होते। पृथ्वी और अग्नितत्त्वसे उत्पन्न अम्ल पदार्थ पृथ्वीकी गुरुताके कारण भारी भी होते हैं; और अग्निके कारण दोषोंको ऊपर उठाकर उत्क्लेद भी उत्पन्न करते हैं। जैसे आलूबुखारा या कांजी दस्तावर है; किन्तु इन्हें खाते ही मुंहमें पानी छूटने लगता है। जल और अग्नितत्त्वके बाहुल्यसे सिद्ध होनेवाला लवणरस जलके निम्नगामी होनेके कारण दोषोंको नीचे सरकाता है, जलका आकर्षण करता है और अग्निके कारण जलन भी उत्पन्न करता है। अर्थात् जो रस दो भिन्न गुण–क्रिया सम्पन्न हैं, उनकी कार्यशक्ति भी मिश्रित होती है। अर्थात् वे ऊपर को भी उठते हैं और नीचेको भी जाते हैं। इस प्रकार उनसे प्रायः वमन और विरेचन दोनों प्रकारकी क्रिया एक साथ सम्पादित होती है। जैसे निसोथ, दन्ती आदि। प्रायः कहनेका यही अर्थ है कि यह सर्वसाधारण और सर्वव्यापी नियम नहीं है। कुछ पदार्थ अपनी विशिष्ट शक्तिके कारण विपरीत प्रभाव दिखलाते हैं, जैसे हर्रेको वमनकारी होना चाहिये; परन्तु वह अपने प्रभावके कारण विरेचन करता है। आकाश और वायुतत्त्वकी अधिकतासे उत्पन्न होनेवाले तिक्त पदार्थ ऊर्ध्वगामी होते हैं; परन्तु हलके होनेके कारण प्रायः वमनकारी नहीं होते तथापि वच और अतीस कभी–कभी वमन भी लाते हैं। किन्तु ये ऊर्ध्वगामी होनेके कारण और रूक्ष होनेके कारण कफको सुखाते हैं। अग्नि और वायुतत्त्वकी अधिकतासे उत्पन्न कटुरस शोषणकी क्रिया सम्पादित करता है; इसलिये शोथरोगमें कटुपदार्थ आमरस सुखानेके लिये दिया जाता है। मुंहमें जलन और मुंह सूखना भी अग्नि और वायु दोनोंकी कार्यशक्तिसे ही होता है। ऐसे पदार्थोंमें शब्द अधिक होता है जैसे कांसा। पृथ्वी और वायुतत्त्वकी प्रधानतासे उत्पन्न होनेवाले कषाय-रसमें भारी और हलके दो विरुद्ध गुण सम्मिलित होते हैं। तथापि वायुसे पृथ्वीकी गुण और शक्ति अधिक है, इसलिये कषायरस भारी तो होता है; परन्तु उसे वायुकी सहायता न मिलनेसे वह विरेचन नहीं करता बल्कि; आमका स्तम्भन और स्रोतसोंका अवरोध करता है। रसवैशेषिकमें लिखा हुआ है:—

'कट्वम्ललवणा वैद्यैर्विदाहित इति स्मृताः ।
स्वादुतिक्तकषायाः स्युर्विदाहरहिता रसाः ॥
विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्ति प्रयोजिताः ।
विदाहरहिता मूर्च्छां शमयन्तीति निश्चितम् ॥'

अर्थात् कटु, अम्ल और लवण इन तीन रसोंवाले द्रव्य विदाही और मूर्च्छा उत्पन्न करनेवाले होते हैं तथा मधुर-तिक्त और कषाय इन तीनों रसोंवाले द्रव्य विदाह न करनेवाले तथा मूर्च्छाका प्रशमन करनेवाले होते हैं।

सुश्रुत सूत्रस्थानके ४२ वें अध्यायमें लिखा है—

'केचिदाहुः-अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः-सौम्याश्चाग्नेयाश्च। मधुर-तिक्त-कषायाः सौम्याः, कट्वम्ललवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ल-लवणाः स्निग्धा गुरवश्च। कटु-तिक्त-कषाया रूक्षा लघवश्च। सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः।'

इसमें द्रव्योंके दो भाग अग्नितत्त्वप्रधान और सोमतत्त्वप्रधान अर्थात् उष्ण और शीत किये गये हैं। द्रव्याश्रित होनेके कारण रसोंकी कार्यशक्ति भी दो भागोंमें बट जाती है। अर्थात् मधुर-तिक्त और कषायरस सौम्य हैं अतएव शीत गुण-विशिष्ट हैं और कटु-अम्ल एवं लवणरस आग्नेय अर्थात् उष्ण हैं। मधुर-अम्ल और लवण ये तीन रस स्निग्ध और गुरु हैं तथा कटु-तिक्त और कषाय रूक्ष एवं लघु हैं। तथा सौम्यरस शीत और आग्नेयरस उष्ण होते हैं।

रसोंका सामर्थ्य

रसोंमें जो गुरु, लघु, रूक्ष, स्निग्ध, उष्ण, शीत आदि गुण (द्रव्यके साहचर्यसे) होते हैं उन्हींके द्वारा रसोंमें कार्य करनेका सामर्थ्य आता है। रस स्वयं पदार्थोंके गुणरूप हैं और स्निग्धादि भी गुण हैं। अतएव जब यह कहा जाता है कि अमुक रस उष्ण है, शीत है, रूक्ष है इत्यादि तब उससे यही समझना चाहिये कि जिन द्रव्योंके आश्रयमें ये रस रहते हैं वे सब गुण उन्हीं द्रव्योंके हैं। रसादि स्वाद और स्निग्धादिगुण पदार्थमें एक साथ रहते हैं, इसीसे उन गुणोंका निर्देश रसोंमें भी किया जाता है। अन्तर यही है कि रसोंकी अनुभूति जिह्वापर निपात होनेसे जिह्वासे लगनेपर होता है। 'रसो निपाते द्रव्याणाम्' अथवा 'रसं विद्यान्निपातेन' अर्थात् जीभपर लगनेसे मधुरादि रसका ज्ञान होता है और स्निग्धादिका ज्ञान उनके खानेके पश्चात् उनके गुणप्रदर्शनसे अनुमानजनित ज्ञान होता है। गुणके अपने और कोई गुण नहीं होते वे केवल कर्मके कारण होते हैं। यदि गुणोंके अन्य गुण आश्रयभूत

होने लगें तो गुणको भी द्रव्य कहना पड़ेगा। ऐसे मौकेमें प्रकरण, देश, काल और ग्रन्थकालका अभिप्राय समझ कर जो निश्चित हो वही ग्रहण करना होता है। जैसे किसी वनस्पतिका वर्णन करते हुए चार या क्षीर शब्दका निर्देश हो तो उससे यही समझा जायगा कि मन्दार आदि किसी दूधवाली वनस्पतिका दूध; लेना है चार कहनेसे अपामार्गादि वनस्पतिका चार समझना होगा। इसी तरह मान लीजिये कि मस्तक व्याधिका वर्णन हो रहा है उसमें कृमिव्याधिका जिक्र आवे तो उसे घावके कृमि नहीं बल्कि मस्तकके ही कृमि समझना होगा। यही देशान्तरके विचार का उदाहरण हुआ। कालका उदाहरण जैसे वमन विषयमें वसन्त ऋतुका ग्रहण और ग्रन्थकालके विषयमें 'प्रतिग्रहाँश्चोपहारयेत्' का जिक्र हो तो वहाँ प्रतिग्रहका साधारण अर्थ 'ग्रहण करना' नहीं लिया जायगा बल्कि वमनके योग्य पात्र अर्थ किया तन्त्रयुक्त शास्त्रोपायको उपाय कहते हैं—अतएव पदार्थके अन्य गुणोंका साथ पाकर रसोंमें सामर्थ्य उत्पन्न होता है और उनके सहयोगसे अपना कार्य विशेषतासे करनेमें वे समर्थ होते हैं। वाग्भट कहते हैं—

रसाः कट्वम्ललवणा वीर्येणोष्णा यथोत्तरम्।
तिक्तः कषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतलाः ॥

अर्थात् कटु, अम्ल और लवणरस अनुक्रमसे एकके बाद दूसरा अधिक उष्णवीर्य है, इसी तरह तिक्त, कषाय और मधुर क्रमसे अधिक-अधिक शीतवीर्य हैं। अर्थात् कटुरस उष्ण है, अम्लरस उष्णतर है और लवण उष्णतम है। इसी तरह तिक्तरस शीत है, कषायशीततर है और मधुरशीततम है। जो जितना अधिक उष्ण या शीत है वह उसीके हिसाबसे उष्णता या सर्दी करनेकी शक्ति रखता है। यही रसोंके कार्य-सामर्थ्यकी कुंजी है। इसी प्रकार—

तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा।
कट्वम्लमधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्रमारुताः ॥

तिक्त, कटु और कषायरस क्रमशः एकसे दूसरा अधिक रूक्ष और मलबद्धता करनेवाले हैं। अर्थात् तिक्त रूक्ष है, कटु रूक्षतर है और कषाय रूक्षतम है। मलका विष्टम्भ करनेमें तिक्त रससे कटु अधिक और कषाय उससे भी अधिक सामर्थ्य रखता है। लवण, अम्ल और मधुर रस एकसे दूसरा अधिक स्निग्ध है। अर्थात् लवण स्निग्ध है, अम्ल स्निग्धतर है और मधुर स्निग्धतम है। लवणरस मल, मूत्र और वायुको अधोगामी करके निकालनेवाला है, अम्लरस उससे भी अधिक इस विषयकी शक्ति रखता है और मधुररसमें इस विषयमें पराकाष्ठाकी शक्ति है। इसीलिये—

पटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः।
लघुरम्लः कटुस्तस्मात्तस्मादपि च तिक्तकः ॥

लवण, कषाय और मधुररस एकसे एक क्रमशः अधिक भारी है। अर्थात् लवण गुरु है, कषाय गुरुतर है और मधुररस गुरुतम है अर्थात् बहुत भारी है, अतएव भारी पदार्थोंका जो काम है उसे ये इसी शक्तिसामञ्जस्यके अनुसार कम, अधिक करते हैं। खट्टा, कटु और तिक्त क्रमशः लघु हैं। अर्थात् अम्लरस लघु है, कटुरस लघुतर है और तिक्तरस लघुतम है। अर्थात् बहुत ही हलका है और इसी अनुपातसे लघुगुणवाले काम करनेमें समर्थ होता है।

रसोंके गुण–कर्म

ऊपर यह बात संक्षेपमें दिखलायी गयी कि पञ्चभूतोंके संयोगके कारण रसोंमें अर्थात् उक्त रसवाले द्रव्योंमें किस प्रकार कार्यशक्तिका संचार होता है। अब यह दिखलाते हैं कि इन छहों रसोंमें अलग-अलग कौनसे गुण-कर्म हैं। अर्थात् एक-एक रस यदि अलग-अलग सेवन किया जाय तो उससे शरीरपर क्या प्रभाव पड़ता है। अर्थात् क्या लाभ और क्या हानि होती है। रस स्वयं गुण हैं और गुणमें अन्य गुणोंकी स्थापना नहीं हो सकती तथापि जिस द्रव्यमें उक्त रस समवाय सम्बन्धसे आश्रय होकर रहते हैं उन्हींके गुणोंका रसोंमें समावेश कर लिया जाता है। इसी तरह गुण चेष्टाख्य कर्मसे भी भिन्न होते हैं तथापि जीवन-बृंहण आदि कर्मोंके लिये कारण होते हैं। इसीलिये रसोंमें गुण और कर्मकी स्थापना मानी जाती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि किसी द्रव्यमें पञ्चभूतोंका जिस क्रमसे सम्मेलन होगा और उसी पदार्थमें जिस परिमाणमें उस रसका प्रादुर्भाव होगा उसी क्रमसे या उसी परिमाणमें उनके सेवनसे उनका गुण और कर्म भी प्रकट होगा।

मधुररसके गुण–कर्म

(रसानामिति रूपाणि) कर्माणि मधुरो रसः।
आजन्म सात्म्यात्कुरुते धातूनां प्रबलं बलम्॥
बालवृद्धक्षतक्षीण-वर्णकेशेन्द्रियौजसाम्।
प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्यसन्धानकृद् गुरुः॥
आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्तानिलविषाऽपहः॥ (अ. हृ. अ. ९)

मधुररस आजन्मसे सात्म्य होता है। अर्थात् पैदा होनेसे लगाकर जिन्दगीभर प्रायः लोग इस रसवाले पदार्थोंका ही अधिक सेवन करते हैं, इसलिये शरीरको उसकी आदत हो जाती है। बच्चेको पैदा होते ही शहद चटाया जाता है, उसे दूध पिलाया जाता है। जिन्दगीभर प्रायः दूध घीका सेवन होता ही रहता है। अन्नोंमें भी प्रधानतः मधुर रसवाले गेहूँ-चावल, जौ आदिका ही सेवन रहता है। इसलिये मधुररस शरीरस्थ रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्रको तथा ओजको

अधिकताके साथ बढ़ाता है। खास कर वह बालकों और बूढ़ोंके लिये अधिक हितकारी है; क्योंकि इन्हें शरीरके पोषणकी और ओज बढ़ानेकी आवश्यकता रहती है। उरःक्षत और घावसे जो कमजोर हो रहे हैं उनके लिये हितकारी है। यह शरीरके वर्ण-कान्ति रंगतको बढ़ाता है, बालोंकी जड़ोंको मजबूत करता और उन्हें बढ़ाता है। इन्द्रियोंकी (चमड़ा, कान, आंख, नाक और जीभ ये पांच और मन इन छहों इन्द्रियोंकी) प्रसन्नताको बढ़ाता है। अर्थात् उनकी कार्यकारिणी शक्तिको बढ़ाकर पुष्ट करता है। यह बृंहणकर्म-शरीरपुष्टिसाधनके लिये श्रेष्ठ है। कण्ठ्य है अर्थात् गलेको साफ करता और स्वरका शोधन करता है। स्तन्यसन्धानकारी है अर्थात् दूध बढ़ाता है। आयुष्य और जीवनीय शक्तिको बढ़ाता है। यहां आयुष्य और जीवन दो शब्द अलग अलग दिये गये हैं और दोनों समान अर्थवाची मालूम पड़ते हैं; परन्तु यथार्थमें दोनोंके अर्थमें भेद है। आयुष्य बढ़ानेका यह मतलब है कि अपरिमित आयु करनेके लिये जो साधनभूत हो अथवा हितकारक हो वे पदार्थ आयुष्यवर्धक हैं, आयुष्यकी निश्चित मर्यादा तक बचाकर पूर्णायु बनानेमें जो साधनभूत हों वे जीवनीय पदार्थ हैं। यह स्निग्ध है और पित्त-वायु तथा विषका नाश करनेवाला है। चरक कुछ गुण और कर्म अधिक बतलाते हैं—

'तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जौजः-शुक्राभिवर्धन, आयुष्यः, षडिन्द्रियप्रसादनो, बल-वर्णकरः, पित्त-विष-मारुतघ्नः, तृष्णा-दाह-प्रशमनः, त्वच्यः, केश्यः,कण्ठ्यः, बल्यः, प्रीणनः, जीवनः, तर्पणः, बृंहणः स्थैर्यकरः, क्षीणक्षतसन्धानकरः, घ्राण-मुख-कण्ठौष्ठ-जिह्वा-प्रह्लादनः, दाह-मूर्च्छाप्रशमनः, षट्पद-पिपीलिकानामिष्टतमः स्निग्धः, शीतः गुरुश्च।

अर्थात् यह चमड़ेको सुन्दर और मुलायम बनाता है। यह बल्य है अर्थात् बलको बढ़ाता है। यह प्रीणन है अर्थात् प्रसन्नताको बढ़ाता है। प्यास और दाहको शान्त करता है, तर्पण है अर्थात् तृप्ति को बढ़ाता है। स्थैर्यकारी है अर्थात् शरीरको स्थिर करता है। मूर्च्छाको दूर करता है, स्निग्ध, शीत और गुरु है। निद्राकारक और कई रोगों को नष्ट करने वाला है। भौंरे और चींटियोंके लिये (तथा मधुमक्षियोंके लिये भी) प्रिय है। सुश्रुत कहते हैं कि—

तत्र मधुरो रसो रस-रक्त-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जौजः-शुक्रस्तन्यवर्धनः, चक्षुष्यः, केश्यः, वर्ण्यः, बलकृत्-सन्धानः, शोणित-रसप्रसादनः, बाल-वृद्ध-क्षतक्षीणहितः, षट्पद-पिपीलिकानामिष्टतमः, तृष्णा-मूर्च्छादाहप्रशमनः, षडिन्द्रिय-प्रसादनः, कृमि-कफकरश्चेति।

अर्थात् यह घावको भरता और जोड़ता, क्षीण और क्षयरोगवालेके लिये हितकारी है, कृमिरोगको उत्पन्न करनेवाला और कफको बढ़ानेवाला भी है। भावमिश्र कहते हैं कि यह शरीरकी स्थूलता और मलको बढ़ाता है तथा पिच्छिल है।

अम्लरसके गुण-कर्म—

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत्स्निग्धो हृद्यः पाचनरोचनः।
उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनो भेदनो लघुः॥
करोति कफपित्तास्रं मूढवातानुलोमनः॥ (अ० हृ० अ० ९)

अम्लरस अग्निको प्रदीप्त करनेवाला, स्निग्ध, मनको प्रिय, रोचक अर्थात् भोजनकी रुचि बढ़ानेवाला, पाचनशक्ति को उत्पन्न करनेवाला, उष्णवीर्य, किन्तु शीतस्पर्श अर्थात् छूनेमें ठण्डा मालूम होनेवाला, प्रसन्नताको बढ़ानेवाला, मलको पतला करनेवाला, हलका, मूढ़वातका अनुमोलन करनेवाला (अपने स्थानसे कुपित होकर भटके हुए ऊर्ध्वगामीको ठीक रास्तेपर कर नीचेको लानेवाला) और कफ-पित्त-तथा रक्तविकारको उत्पन्न करने और बढ़ानेवाला है। चरक कहते हैं—

'अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं प्रदीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति, भुक्तमपकर्षयति, क्लेदयति-जरयति, प्रीणयति, लघुः, उष्णः, स्निग्धश्च'।

यह शक्ति बढ़ानेवाला, शरीरको हृष्ट-पुष्ट करनेवाला, मानसिक वृत्तियोंको जागृत और उत्तेजित करनेवाला, शारीरिक इन्द्रियों और अंगोंको बल देकर दृढ़ करनेवाला, हृदयको तृप्ति करनेवाला, मुखके लालापिण्डोंको क्षुभित कर लार उत्पन्न करनेवाला, खाये हुए अन्नको नीचे ढकेलनेवाला, पाचकरस अधिक उत्पन्न कर आहारपिण्डको ढीला और गीलाकर जल्दी पचने योग्य बनानेवाला भी है। सुश्रुत कहते हैं—

'अम्लः, जरणः, पाचनः, दीपनः, पवननिग्रहणः, अनुलोमनः, कोष्ठ-विदाही, बहिः शीतः, क्लेदनः प्रायशः हृद्यश्चेति।'

यह कोठेमें जलन पैदा करनेवाला और बहुत करके हृदयका हितकारी भी है। भावमिश्र कहते हैं कि-यह लेखन है अर्थात् दोषोंको खरोंचकर बाहर निकालनेवाला है। वायुनाशक, तीक्ष्ण, सारक, वीर्यक्षयकारी, मलके विबन्धको फोड़नेवाला, पेटके अफराको नष्ट करनेवाला, दृष्टिकी शक्तिको नष्ट करनेवाला भी है।

लवणरसके गुण-कर्म—

लवणः स्तम्भसंघातबन्धविध्मापनोऽग्निकृत्।
स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेदभेदकृत्॥ (अ० हृ० अ० १०)

लवणरस शरीरके किसी अंगकी जकड़न और तनाव तथा कड़ेपनको नष्ट करता है। स्रोतसोंमें प्रवेशकर उनका मुँह खोलता है अर्थात् स्रोतसोंका अवरोध दूर करता है। अग्निको प्रदीप्त करनेवाला, शरीरको मुलायम बनानेवाला, पसीना उत्पन्न करनेवाला, तीक्ष्ण, रुचिकारक, दोषों और घाव आदिका छेदन और भेदन करनेवाला है। चरक कहते हैं—

'लवणो रसः पाचनः, क्लेदनो, दीपनः, च्यावनः, छेदनो, भेदनः तीक्ष्णः, सरो, विकासी, अधःस्रंसी, अवकाशकरो, वातहरः, स्तम्भ-बन्ध-संघात-विधमनः, सर्वरसप्रत्यनीकभूतः, आस्यमास्रावयति कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वशरीरावयवान् मृदूकरोति, रोचयत्याहारम् आहारयोगी, नात्यर्थं गुरुः, स्निग्धः, उष्णश्च ।'

अर्थात् लवणरस पाचक है, नमी करनेवाला, गीलापन लानेवाला, च्यावन अर्थात् अवयवोंको अपने स्थानसे सरकानेवाला, सारक (स्थिरके विपरीत), घाव अथवा आमके पिचपिचेपनको दूर करनेवाला, विकासी अर्थात् धातुबन्धनको खोलनेवाला, अवस्रंसी अर्थात् विष्यन्दशील (आंख, नाक आदिसे पानी बहानेवाला) अवकाशकारी अर्थात् छिद्रकरनेवाला; (घनताको हटाकर विरलता करनेवाला,) सर्वरसप्रत्यनीकभूत अर्थात् सब रसोंके विपरीत है। यदि किसी पदार्थमें अन्दाजसे अधिक हो जाय तो अन्य सब रसोंको लुप्त कर देता है। कफको पतला करनेवाला और आहारमें नित्य लेने योग्य है। इसके सेवनसे कभी चित्त ऊबता नहीं। न तो अधिक भारी, न अधिक स्निग्ध किन्तु उष्ण है। सुश्रुत कहते हैं—

'लवणः, संशोधनः, पाचनः, विश्लेषणः, क्लेदनः, शैथिल्यकृत् , उष्णः सर्वरसप्रत्यनीकः, मार्गविशोधनः, सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति ।'

यह पाचन और वमन-विरेचन द्वारा शरीरसंशोधक है, घावको भी शुद्ध करता है, इसके द्वारा रसोंका विश्लेषण अर्थात् पृथक्करण होता है। शिथिलताको उत्पन्न करनेवाला, मूत्रनली और नाड़ीव्रणका शोधन करने वाला है। भावमिश्र कहते हैं कि कफ और पित्तको बढ़ानेवाला वायुका नाश करनेवाला और पुरुषत्वको नष्ट करनेवाला भी है।

तिक्तरसके गुण-कर्म—

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिं कृमितृड्विषम् ।
कुष्ठमूर्च्छाज्वरोत्क्लेशदाहपित्तकफाञ्जयेत् ॥

क्लेदमेदोवसामज्जशकृन्मूत्रोपशोषणः ।
लघुर्मेध्यो हिमो रूक्षः स्तन्यकण्ठविशोधनः ॥ (अ. हृ. अ. १०)

तिक्तरस स्वादमें स्वयं अरुचिकारक होते हुए भी मुखकी रुचिको बढ़ाता है, अरुचिका नाश करता है। कृमि, तृषा, विषदोष, कुष्ट, मूर्च्छा, ज्वर, जी मचलाना, दाह, पित्त और कफको नष्ट करता है। शरीरके क्लेदको सुखाता और मेद, चर्बी मज्जा (चरकके मतमें लस, पीव, पसीना भी) मल, और मूत्रका शोषण करता है। पर गुणमें हलका, ठण्डा और रूक्ष है। दूधको शुद्ध करता है, मेधाशक्तिको बढ़ाता है और कण्ठ साफ करता है। चरकके मतानुसार तिक्तरसमें ऊपर लिखे हुए गुणोंके अतिरिक्त खुजली नाश करनेकी शक्ति है। चर्म और मांसको स्थिर करता है, अग्निको प्रदीप्त करनेवाला, पाचनशक्ति बढ़ानेवाला और लेखनकार्य करनेवाला है। लसीका, पीव, पसीना, पित्त और कफको सुखानेवाला है।

'तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नो, विषघ्नः, कृमिघ्नो, मूर्च्छा-दाह-कण्डु-कुष्ठ-तृष्णाप्रशमनः, त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो, ज्वरघ्नो, दीपनः, पाचनः, स्तन्यशोधनो, लेखनः, क्लेद-मेदो-वसा-मज्ज-लसीका-पूय-स्वेद-मूत्र-पुरीष-पित्त-श्लेष्मोपशोषणो, रूक्षः शीतो लघुश्च ।'

(चरक सू० अ. २६)

सुश्रुतके मतमें इसमें छेदकशक्ति अर्थात् दोषादिकोंको उच्छेदन करनेकी शक्ति है और संशोधक है।

'तिक्तश्छेदनो, रोचनो, दीपनः, शोधनः, कण्डू-कोठ-तृष्णा-मूर्च्छा-ज्वर-प्रशमनः, स्तन्यशोधनो, विण्मूत्र-क्लेद-मेदो-वसा-पूयोपशोषणश्च ।'

भावमिश्रकी सम्मतिमें यह रक्तदोषनाशक, नाक सुखानेवाला, वातकारक और अग्निवर्धक है।

कटुरसके गुण-कर्म—

कटुर्गलामयोदर्दकुष्ठालसकशोफजित् ।
व्रणावसादनः स्नेहमेदःक्लेदोपशोषणः ॥
दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणः ।
छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः ॥ (अ०हृ०अ०१०)

कटुरस, गलेके रोगोंको दूर करता है उदर्द* (शीतपित्ती) रोगको नष्ट करता

* वैद्यरत्न कविराज योगेन्द्रनाथसेनने उदर्दको उरोऽभिष्यन्द रोग लिखा है। किसी किसीके मतमें विशेषकर शीतकालमें शीतल जलके स्पर्शसे कुछ ललाई लिये हुए खुजलीके साथ जो शोथ कफदोषसे उत्पन्न होता है उसे उदर्द कहते हैं।

है। कुष्ठ, अलसक (आमदोष) और शोथको जीतनेवाला है। स्नेह (शरीरकी स्निग्धता), मेद (स्थूलता) और क्लेद को (चरकके मतमें मलको भी) सुखाता है। जखमको भरनेवाला, अग्निदीपक, पाचन, रुचिकर, शुद्ध करनेवाला (चरक कहते हैं कि लारको बहाकर मुखको शुद्ध करता है), खाए हुए अन्नको शोषण करनेवाला अर्थात् सुखा कर दाह उत्पन्न करनेवाला, सन्धिबन्धनोंको ढीला करनेवाला तथा स्रोतसोंके मार्गको फैलानेवाला और कफनाशक है। चरकके मतमें—

कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसक-श्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्द-स्नेह-स्वेद-क्लेद-मलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं, कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, कृमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंघातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुः, उष्णो, रूक्षश्च।' (चरक सू. अ. २६)

अर्थात् ऊपर लिखे गुणोंके सिवाय कटु रस नाकसे पानी और आँखसे आँसू लाता, इन्द्रियोंको उत्तेजित करता अर्थात् उन्हें स्फुरण देता है, खुजली दूर करता है, मांसका छेदन करता है अर्थात् स्थूलताको हटाता अथवा मांसके ऊपरके चमड़ेको फाड़ देता है, जमे हुए रक्तको पतला कर फाड़ता है। यह गुणमें लघु, उष्ण और रूक्ष है।

'कटुको दीपनः, पाचनो, रोचनः, शोधनः, स्थौल्यालस्य-कफ-कृमि-विष-कुष्ठ-कण्डू-प्रशमनः, सन्धिबन्धविच्छेदनः, अवसादनः, स्तन्य-शुक्रमेदसामुपहन्ता चेति।' (सुश्रुतः)

सुश्रुतके मतमें इससे शरीरका अवसाद बढ़ता है। यह दूध, शुक्र और मेदका नाश करता है। भावमिश्रके मतमें यह विशद (पिच्छिलके विरुद्ध अर्थात् निर्मल, क्लेदनाशक 'क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः'), वात और पित्तको बढ़ानेवाला है। इसके सेवनसे नाक बहुत सूखती है। कटुरस मलका विबन्ध करनेवाला और मेधाशक्ति (धारणाशक्ति बुद्धि) बढ़ानेवाला है।

कषायरसके गुण-कर्म—

कषायः पित्तकफहा गुरुरस्रविशोधनः।
पीडनो रोपणः शीतः क्लेदमेदोविशोषणः॥
आमसंस्तम्भनो ग्राही रूक्षोऽतित्वक्प्रसादनः॥ (अ. हृ. अ. १०)

कषायरस पित्त और कफका नाश करनेवाला, भारी, रक्तशोधन करनेवाला, लेप करने और घाव भरनेके लिये उपयोगी, ठण्डा, क्लेद और मेदका सुखानेवाला,

आमका अवष्टम्भ करनेवाला, मलका विबन्ध करनेवाला, रूक्ष और चमड़ेको खूब साफ और सुन्दर बनाने वाला है।

'कषायो रसः संशमनः, संग्राही, सन्धानकरः, पीडनो, रोपणः, शोषणः, स्तम्भनः, श्लेष्म-रक्त-पित्त-प्रशमनः, शरीरक्लेदस्योपयोक्ता, रूक्षः, शीतोऽलघुश्च।' (चरकः)

चरकके मतमें कषायरस संशमनकारी और सन्धानकारी अर्थात् टूटे हुएको जोड़नेवाला भी है। सुश्रुतके मतमें—

कषायः संग्राहको, रोपणः, स्तम्भनः, शोधनो, लेखनः, शोषणः, पीडनः, क्लेदोपशोषणश्चेति। (सुश्रुतः)

यह शरीर को स्तम्भन करनेवाला, अथवा शरीरके मृदुभागको दृढ करनेवाला है। घावका शोधन, लेखन, पूरण और क्लेदशोषण करता है। हृदयमें खिंचावट पैदा करने वाला भी है।

अष्टाङ्गसंग्रहमें छहों रसोंके सम्बन्धमें निम्नलिखित उल्लेख है—

१—तत्र मधुरो रसो जन्मप्रभृतिसात्म्यात् सर्वधातुविवर्धन, आयुष्यो, बाल-वृद्ध-क्षतक्षीण-बलवर्णेन्द्रिय-त्वक्केश-कण्ठहितः, प्रीणनो, बृंहणो जीवनः, तर्पणः, स्थैर्य-सन्धान-स्तन्यकरो, वात-पित्त-विष-दाह—मूर्च्छा-तृष्णाप्रशमनः, स्निग्धः, शीतो, मृदुर्गुरुश्च।

२—अम्लोऽनिलनिबर्हणः, अनुलोमनः, कोष्ठविदाही, रक्तपित्तकृत्, उष्णवीर्यः, शीतस्पर्शो, बोधयतीन्द्रियाणि, रोचनः, पाचनो, दीपनो, बृंहणः, तर्पणः, प्रीणनः, क्लेदनो, व्यवायी, लघुः, स्निग्धो, हृद्यश्च।

३—लवणः स्तम्भ-बन्ध-संहतिविध्मापनः, सर्वरसप्रत्यनीको, दीपनो, रोचनः, पाचनः, क्लेदनः, शोषणः, स्नेहनः, स्वेदनो, भेदनः छेदनः सरो, व्यवायी, विकासी, हरति पवनं, विष्यन्दयति कफं, विशोधयति स्रोतांसि, नातिगुरुः, तीक्ष्णोष्णश्च।

४—तिक्तः स्वयमरोचिष्णुः, अरुचि-विष-कृमि-मूर्छोत्क्लेद-ज्वर—दाह-तृट्-कुष्ठ-कण्डूहरः, क्लेद-मेदो-वसा-मज्जा-विण्मूत्र-पित्त-श्लेष्मोपशोषणो, दीपनः, पाचनो, लेखनः, स्तन्य-कण्ठ-विशोधनो, मेध्यो, नातिरूक्षः, शीतो, लघुश्च।

५—कटुकोऽलसक-श्वयथूदर्द-स्थौल्याभिष्यन्द-कृमिवक्त्ररोग-विष-कुष्ठ-कण्डूप्रसाधनो-व्रणावसादनः-स्नेह-क्लेदशोषणो, रोचनः, पाचनो,

दीपनो, लेखनः, शोधनः, शोषयत्यन्नं, स्फुटयतीन्द्रियाणि, भिनत्ति शोणितसंघातं, छिनत्ति बन्धान्, विवृणोति स्रोतांसि, क्षपयति श्लेष्माणं, लघु-रूक्ष-तीक्ष्णोष्णश्च।

६—कषायो बलासं सपित्तं सरक्तं, निहन्त्याशु बध्नाति वर्चोऽतिरूक्षः।
गुरुस्त्वक्सवर्णत्वकृत् क्लेदशोषी हिमः प्रीणनो रोपणो लेखनश्च॥

नागार्जुनने रसवैशेषिकमें—

'तत्र बृंहणीयाः, तर्पणीयाः, बल्या, वृष्याः, स्वादवो, गुरुविपाका, मेदुराः, स्थिराः, पयस्या, हृद्याः, स्निग्धा, जीवनीयाः, सृष्टमूत्रपुरीषाः, पूजिताश्चाभ्यवहरणाय पूर्वं भूयिष्ठम्।'

कह कर सूचित किया है कि मधुरादि छहों रसोंमेंसे तीन रस (मधुर, अम्ल और लवण) आहारमें प्रधान और पथ्य हैं। बृंहण अर्थात् शरीरको पुष्ट करनेवाले, तृप्ति करनेवाले, बलकारक, वृष्य-धातुवर्धक, गुरुविपाकी (देरसे हजम होनेवाले), मेद को बढ़ाने वाले, शरीरको दृढ करनेवाले, स्तन्य-दूधको बढ़ानेवाले, हृदयको हितकारी, स्निग्ध, शरीरधारणमें उपयुक्त जीवनीय और मल तथा मूत्रको आरामसे निकालने वाले हैं।

शेष तीन रस (अर्थात कटु-तिक्त और कषाय) रसवाले द्रव्य इन गुणोंसे विपरीतगुणवाले अर्थात् आहारमें गौण, शरीरको कृश करनेवाले, तृप्ति न करनेवाले, बलको कम करनेवाले, अवृष्य, अस्वादु, शीघ्र पचनेवाले, मेद को घटानेवाले, शरीर को शिथिल करनेवाले, दूधको कम करनेवाले, अहृद्य, रूक्ष, जीवनके लिये कम उपयुक्त तथा मूत्रको रोकनेवाले हैं।

स्मरण रखना चाहिये कि गुरु-लघु-शीत-उष्ण आदि गुण रसोंके आश्रयभूत पार्थिव आदि द्रव्योंमें ही रहनेवाले हैं, क्योंकि गुण गुणका आश्रय लेकर गुणोंमें नहीं रह सकते। अतएव जो मधुरादि रसोंके गुण कहे गये हैं उन्हें मधुरादिरसवाले द्रव्योंके गुण समझना चाहिये। मधुरादि रस और गुर्वादि गुणोंका नित्य साथ रहने का सहचारीभाव है, इसीलिये गुर्वादिगुण यद्यपि मधुरादि रसवाले द्रव्योंके हैं तथापि औपचारिक रूपसे मधुररस गुरु है, अम्लरस लघु है आदि कहा जाता है। कहा भी है:—

गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्।
विद्याद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः॥

(चरक सू० अ० २६)

एवं—

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये।
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः॥

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ये छः रस अलग अलग अथवा एक, दो, तीन रस एक साथ मिलाकर योग्य मात्रामें ठीक उपयोग करनेसे लोगोंके लिये उपकारक होते हैं। इसके विरुद्ध यदि उनका उपयोग अधिक मात्रामें किया जाय तो वे हानिकर होते हैं। ऐसी दशामें बुद्धिमान मनुष्यका कर्तव्य है कि गुणद्रव्यका ठीक विचार कर ऐसी मात्रामें इनका उपयोग करे जिससे ये सेवनकर्ताके लिये उपयोगी हो सकें।

रसोंके अधिक सेवनका परिणाम

कोई भी कार्यहो आवश्यकतासे अधिक करने पर उसका नतीजा अच्छा नहीं निकलता। अपने यहांकी यह साधारण नीति है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। यद्यपि प्रत्येक रसमें जो जो गुण कहे गये हैं वे सेवनसे दिखाई पड़ते हैं तथापि यदि एक ही रस एक परिमाणसे अधिक सेवन किया जाय तो उससे कभी कभी विपरीत गुण दिखाई पड़ते हैं। अतएव नीचे यह दिखलाते हैं कि प्रत्येक रसके अधिक सेवनसे क्या परिणाम होता है?।

मधुररसके अधिक सेवनका फल—

कुरुतेऽत्युपयोगेन स मेदःकफजान् गदान्।
स्थौल्याग्निसादसंन्यासमेहगण्डार्बुदादिकान्॥ (अ. हृ. १०)

अर्थात् मधुररसके अत्यन्त सेवन करनेसे वह मेदको बढ़ाता है, जिससे शरीर बहुत स्थूल और भद्दा हो जाता है। पाचकाग्नि मन्द पड़ जाता है, संन्यासरोग (मूर्च्छाका भेद), प्रमेह, मधुमेह, गलगण्ड, फोड़े-फुंसी आदि रोग पैदा होते हैं। कफ विकृत होकर कफ और मेदसम्बन्धी बीमारियां होती हैं। अधिक मिठाई रक्तके जलीय अंशको गाढ़ा कर देती है, इसलिये प्यास बढ़ जाती है और रक्तके गाढ़ा होनेसे उसका सञ्चार भी कम होता है और रक्तविकार उत्पन्न हो जाता है। वातरक्तकी बीमारी भी मधुर रसके अत्यन्त सेवनसे होती है इन दोषोंके अतिरिक्त चरकके मतमें मधुररस अधिक सेवन करनेसे मांसपेशियां शिथिल पड़ जाती हैं और मनुष्य परिश्रमशील और कष्टसहिष्णु नहीं रह जाता, उसकी कोमलता बढ़ जाती है। शरीर भारी पड़ जाता है, अन्नकी अभिलाषा घट जाती है। आलस्य बढ़ जाता है, नींद अधिक लगती है। मुँह और गलेका मांस बढ़ जाता है। दमा, खांसी, जुखाम, अलसक, विसूचिका, शीतज्वर, आनाह और मल-मूत्रावरोध आदि बीमारियां होती हैं। मुंह मीठा सा रहता है, वान्ति होती है, स्वरभंग होता है, श्लीपद (हाथी पांव) होता है, गला सूज जाता है, बस्तिशिरा और मलद्वारमें उपलेप होता

है अर्थात् वहां कफ अथवा चर्बी बढ़कर वे स्थान संकुचित हो जाते हैं। आंखके रोग होते हैं, बारम्बार आंख उठती है।

'स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यं, मार्दवम्, आलस्यम्, अतिस्वप्नं, गौरवम्, अनन्नाभिलाषम्, अग्नेर्दौर्बल्यम् आस्यकण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिं, श्वास-कास-प्रतिश्यायालसक-शीतज्वरानाहास्यमाधुर्य-वमथु-संज्ञास्वरप्रणाश-गलगण्डगण्डमाला-श्लीपद-गलशोफ-बस्तिधमनीगलोपलेपाद्यामयाभिष्यन्दानित्येवंप्रभृतीन् कफजान् विकारानुपजनयति'

सुश्रुतके मतमें इसके अधिक सेवनसे कृमि आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कास-श्वासालसक-वमथु-वदनमाधुर्य-स्वरोपघात-कृमि-गलगण्डानापादयति, तथाऽर्बुद-श्लीपद-बस्ति-गुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृतीञ्जनयति। (सुश्रुतः)

इस विषयमें अष्टांगसंग्रहकारका कथन है कि—

एवं गुणोऽपि स सदाऽत्युपयुज्यमानः
स्थौल्याग्निसाद-गुरुताऽलसकार्तिनिद्राः।
श्वास-प्रमेह-गलरोग-विसंगताऽऽस्य-
माधुर्य-लोचन-गलार्बुद-गण्डमालाः॥
छर्द्युदर्द-मूर्धरुक्कासपीनसकृमीन् श्लीपद-ज्वरोदर-ष्ठीवनानि चावहेत्॥

अम्लरसके अधिक सेवन का फल—

सोऽत्यभ्यस्तस्तनोः कुर्याच्छैथिल्यं तिमिरं भ्रमम्।
कण्डुपाण्डुत्ववीसर्पशोफविस्फोटतृड्ज्वरान्॥ (अ. हृ. १०)

अम्लरसके अधिक सेवनसे देहकी शिथिलता बढ़ जाती है, नेत्रोंमें तिमिर रोग हो जाता है, चक्कर आते हैं, खुजली, शरीर फीका पड़ जाना, विसर्प, शोथ, विस्फोटक, तृषा और ज्वरका रोग होता है। इसके सिवाय चरकके मतमें इसके अधिक सेवनसे दन्तहर्ष (दांत सिहरना), नेत्र-सम्मीलन (आंखें मुंदीसी रहना), शरीरमें रोमांच होना आदि शिकायतें होती हैं। कफ पतला पड़ जाता है, पित्त बढ़ जाता है, रक्त दूषित हो जाता है, मांसमें जलन होती है, कमजोर, क्षतक्षीण और दुबले पतले मनुष्योंको शोथ हो जाता है। जिनके घाव है, लाठी-डण्डे आदिकी चोट जिन्हें लगचुकी है और कभी कभी कसकती है, जिन्हें किसी विषैले जन्तुने कभी काटा है या विषका रगड़ा दिया है, जो कभी अग्नि अथवा क्षारादिसे जलाये गये हैं, जिनका कोई अङ्ग उखड़ चुका है, टूट चुका है, जिनके शरीरमें चोट आदिसे सूजन है, जिनके ऊपर किसी विषैले जन्तुने मूत दिया है, या जिनके ऊपरसे विषला

जन्तु रगड़कर निकल गया है, तलवार आदिसे जिनका शरीर छिन्न-भिन्न हो गया है, जिनका कोई आशय फट गया है, जिनकी चोटसे हड्डी चूर हो गयी है ऐसे लोग यदि अम्लरसका अधिक सेवन करें तो उनके वे स्थान अम्लके अग्निस्वभावके कारण पक जाते हैं और बहने लगते हैं। अम्लके अग्निस्वभावके कारण उसके अधिक सेवनसे गले, छाती और हृदयमें जलन होती है।

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, सम्मीलयत्यक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलापयति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति, क्षीण-क्षत-कृश-दुर्बलानां श्वयथुमापादयति, अपि च क्षताभिहत-दष्ट-दग्ध-भग्न-शून-प्रच्युतावमूत्रितपरिसर्पित-मर्दित-च्छिन्न-भिन्न-विश्लिष्टो द्विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेय-स्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं च। चरकः।

सुश्रुतका कथन है—

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्ष-नयनसम्मीलन-रोमसंवेजन-कफविलयन-शरीरशैथिल्यमापादयति तथा क्षताभिहत-दग्ध-दष्ट-भग्न-रुग्ण-शून-प्रच्युतावमूत्रित-विसर्पित-च्छिन्न भिन्न-विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं चेति।(सुश्रुतः)

अम्लके अधिक सेवनका परिणाम अष्टांगसंग्रहकार यों बतलाते हैं—

जनयति शिथिलत्वं सेवितः सोऽति देहे
कफविलयन-कण्डूपाण्डुताहग्विघातान्।
क्षत-विहत-विसर्पं रक्तपित्तं पिपासाम्
श्वयथुमपि कृशानां तैजसत्वाद् भ्रमं च॥

भावमिश्रके मतसे अम्लरस अधिक सेवन करनेसे कुष्ठ रोग भी होता है।

लवणरसका अधिक उपयोग—

सोऽतियुक्तोऽस्रपवनं खलति पलितं वलिम्।
तृट्कुष्ठविषवीसर्पाञ्जनयेत्क्षपयेद् बलम्॥ (अ. हृ. सू. अ. १०)

लवणका अत्यन्त सेवन करनेसे वातरक्तकी बीमारी होती है, बाल झड़ते और बुढ़ापेसे पहले ही पक जाते हैं। शरीरमें झुरियां पड़ जाती हैं। प्यास बढ़ जाती, नशा सा चढ़ा रहता, विसर्प रोग होता और बलका नाश होता है। चरकके मतमें ऊपरकी शिकायतोंके सिवाय निम्नलिखित दोष भी होते हैं—लवणरसके अत्यन्त सेवनसे पित्त कुपित हो जाता है, मूर्च्छा आने लगती है, मोह या बेहोशी मालूम

पड़ती या चित्तभ्रम होता है, शरीरका उत्ताप बढ़ा रहता है, अंग टूटते रहते हैं, मांसपेशियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, कुष्ठवालेके गलित कुष्ठ हो जाता है, यह विषको बढ़ा देता है, सूजी हुई जगह फट जाती है, दांत जल्दी गिरते हैं, पुरुषत्वका नाश होता है, इन्द्रियाँ अपना काम करनेमें शिथिलता दिखाने लगती हैं, रक्तपित्त, अम्लपित्त, चाईं आदि विकार होते हैं। इसके सिवाय विमानस्थानमें चरक और भी कहते हैं कि—लवण अधिक खानेसे शरीरमें शिथिलता और कमजोरी बढ़ जाती है। जिस गांव, नगर और देशके लोग नित्य अधिक नमक खाते हैं उनका शरीर सदा थका सा मालूम पड़ता है, उनकी रक्तधमनियाँ और मांसपेशियाँ शिथिल हो जाती हैं ऐसा मनुष्य कोई कठिन परिश्रमका काम नहीं कर सकता। बलख, बुखारा, गुजरात, काठियावाड़, सिन्ध और कच्छ देशवासी अधिक नमक खाते हैं, यहाँ तक कि खिचड़ीके साथ भी वे विरुद्ध भोजन दूध लेते हैं अतएव इनमें आराम-तलबी और आलस्य की अधिकता रहती है। पृथ्वीपर जो अत्यन्त ऊसर और क्षारयुक्त देश हैं वहाँ वृक्ष, वनस्पति, ओषधि आदि भी नहीं उगती; यदि उगी भी तो निस्तेज हो जाती हैं; क्योंकि लवण उनके तेजको नष्ट कर देता है, फिर शरीरके लिये वह हानिकारी क्यों नहीं होगा। अतएव अत्यन्त लवणका सेवन हानिकारी है।

अन्यत्र लवणके सेवनके सम्बन्धमें चरकका मत—

'स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति, तापयति, दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान्स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, बलि-पलित-खालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ताम्लपित्त-वीसर्प-वातरक्त-विचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन् विकारानुपजनयति। चरक सू. अ. २६।'

सुश्रुतका मत नीचे लिखे अनुसार है—

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डू-कोठ-शोफ-वैवर्ण्य-पुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपताप-मुखाक्षिपाक-रक्तपित्त-वातशोणिताम्लीकाप्रभृतीनापादयति।

अष्टांगसंग्रहकार यों कहते हैं—

खलतिपलित-तृष्णा-ताप-मूर्च्छा-विसर्प-
श्वयथु-किटिभ-कोठाक्षेप-रोधास्रपित्तम्।
क्षतविषमदवृद्धिं वातरक्तं करोति
क्षपयति बलमोजः सोऽति वा सेवनेन (अ. सं. सू. अ. १८)

तिक्तरसका अधिक सेवन—

धातुक्षयाऽनिलव्याधीनतियोगात्करोति सः।

अर्थात् (तिक्त) तीते रसका अधिक सेवन करनेसे वात कुपित होकर वायुके रोग होते हैं और धातुओंका क्षय होता है। चरक कहते हैं कि-तिक्त रस अपनी रूक्षता तथा खर और विशद स्वभावके कारण रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा और शुक्र धातुओंको सुखाता है, स्रोतसोंका मार्ग खरदरा कर देता है, बलको क्षीण करता है, शरीर कृश होता है, ग्लानि-मोह-भ्रम आदि विकार होते हैं, मुख सूखता है और अन्य वायुके विकार होते हैं। सुश्रुत कहते हैं कि तिक्तरसका अधिक सेवन करनेसे शरीर स्पन्दनहीन हो जाता है, मन्यास्तम्भ, हाथ-पावोंका आक्षेप, शिरकी पीड़ा, चक्कर, शरीरमें कोंचनेकी सी, काटनेकी सी और छेदनेकी सी पीड़ा होती है, मुंहका स्वाद बिगड़ जाता है। भावमिश्रके मतानुसार तिक्तरसके अधिक सेवनसे कम्प, मूर्च्छा और तृषा रोग भी होता है।

तिक्तरसके अधिक सेवनके परिणाम पर चरकका मत—

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खरविशद-स्वभावाच्च रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमापादयति, बलमादत्ते, कर्षयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति।

सुश्रुतके मतमें—

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाक्षेप-कार्दित-शिरःशूल-भ्रम-तोद-भेद-च्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति।

अष्टांङ्गसंग्रहकारका मत—

धातुबलक्षय-मूर्च्छा-ग्लानि-भ्रम-वातरोगपरुषत्वम्।
खर-विशद- रौक्ष्यमम्लैः सोऽतिसमासेवितः कुर्यात्।

कटुरसका अधिक सेवन—

कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्रबलक्षयम्।
मूर्च्छामाकुञ्चनं कम्पं कटिपृष्ठादिषु व्यथाम्॥

कटुरसके अधिक सेवन करनेसे प्यास लगती है, वीर्य और शक्तिका क्षय, मूर्च्छा, सिराओंका सङ्कोच, कँपकँपी और कमर, पीठ आदि अंगोंमें पीड़ा होती है। चरक कहते हैं कि—कटुरस अपने कटु विपाकके प्रभावसे पुरुषत्वका नाश करता है; क्योंकि कहा है—'शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः' रस और वीर्यके प्रभावसे (कटुता और उष्ण वीर्यके कारण) मोह उत्पन्न करता, ग्लानि पैदा करता,

जिससे शरीरका अवसाद बढ़ता है, शरीर दुबला होता है, मूर्च्छा आती है, शरीरको तानता और झुकाता है, चक्कर लाता है, गलेमें जलन पैदा करता है, अपस्मारके पूर्वरूप मालूम पड़ते हैं। शरीरकी गर्मी और दाह बढ़ा देता है। तृषा बढ़ाता, बलको क्षीण करता है और वायु तथा अग्निगुणकी अधिकताके कारण भ्रम, मुंह, तालु और होठोंका दाह, कम्प, तोद, भेद और हाथ, पांव, पीठ, पसुली प्रभृतिमें वायुके विकार उत्पन्न होते हैं। इस सम्बन्धमें चरक, सुश्रुत और अष्टांगसंग्रहकारके वचन उद्धृत करते हैं—

कटुरसके अधिक सेवनपर चरकमत—

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात् पुंस्त्वमुपहन्ति, रस-वीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लपयति, सादयति, कर्शयति, मूर्च्छयति, नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णां जनयति, अपि च वाय्वग्निगुणबाहुल्याद् भ्रम-दवथु-कम्प-तोदभेदैश्चरण-भुज-पीलु-पार्श्व-पृष्ठप्रभृतिषु मारुतजान् विकारानुपजनयति।

यहाँ पीलुका अर्थ हाथकी हथेली है।

सुश्रुतका मत—

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रम-मद-गलताल्वोष्ठशोष-दाह-सन्ताप-बलविघात-कम्प-तोद-भेदकृत् कर-चरण-पार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलान्यापादयति।

अष्टांगसंग्रहकारका मत—

कुरुतेऽतिनिषेवितः स तृष्णा-मद-मूर्च्छा-वमिमोहदेहसादान्।
बल-शुक्र-गलोपशोष-कम्प-भ्रम-तापग्लपनानि कर्शनानि॥
करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिष्वनिलस्य कोपयति तीव्रम्।
संकोच तोद-भेदैर्वाय्वग्निगुणाधिकत्वेन॥

कषायरसका अधिक सेवन—

करोति शीलितः सोऽति विष्टम्भाध्मानहृद्रुजः।
तृट्कार्श्यपौरुषभ्रंश-स्रोतोरोधमलग्रहान्॥ (अ. हृ. सू. अ १०)

अर्थात् कषायरसका अधिक सेवन करनेसे वातावरोध, पेट फूलना, हृदयकी धड़कनका बढ़ जाना, प्यास, शरीरका दुबला होना, पुरुषत्वका नाश, स्रोतसोंका अवरोध और मलावष्टम्भ विकार होते हैं। चरक कहते हैं कि—कषायरसका अधिक

सेवन करनेसे मुंह सूखता है, हृदयमें पीड़ा होती है, जिह्वा जकड़ी सी मालूम पड़ती है, कषायरसके वातवर्धक होनेके कारण शरीरकी श्यामता बढ़ जाती है, पेटमें गुड़गुड़ाहट होती है। अधोवायु-मल-मूत्र-वीर्यका अवरोध होता है। शरीरमें म्लानता आ जाती है, शरीर स्तब्ध हो जाता है। उसके खर, रूक्ष और विशदगुणके कारण पक्षाघात, हनुग्रह, मन्यास्तम्भ, अपतन्त्रक (जिसे हिस्टीरिया कहते हैं, इसमें आंखोंके सामने अंधकार छा जाता है, मूर्च्छा आती है और गलेमें घुरघुर शब्द होता है) रोग आदि भी होते हैं। सुश्रुत कहते हैं कि-इसके अधिक सेवनसे अंगोंका स्फुरण (फड़कना), चमड़ेमें चुनचुनाहट और आकुंचन भी बढ़ जाता है। इस सम्बन्धमें चरक-सुश्रुत और अष्टांगसंग्रहकार का उद्धरण नीचे देते हैं—

कषायरसके अतिसेवनका परिणाम चरकमतसे—

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति, वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्वमाषादयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां गच्छति, वात-मूत्र-पुरीष-रेतांस्यवगृह्णाति कर्शयति, ग्लपयति, तर्षयति, स्तम्भयति, खर, विशद-रूक्षत्वात् पक्षवधग्रहापतानकार्दितप्रभृतींश्च वातविकारानुपजनयति।

सुश्रुतका मत—

स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडाऽऽस्यशोषोदराध्मानवाक्प्रग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुमचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीञ्जनयति।

(सु. सू. अ. ४२)

अष्टांगसंग्रहकारका मत—

अत्यभ्यासात् सोऽपि शुक्रोपरोधं-तृष्णाध्मानस्तम्भविष्टम्भकार्श्यम्।
स्रोतोबन्धं वात-विण्मूत्रसङ्गं पक्षाघाताक्षेपकादींश्च कुर्यात्॥

(अ. सं. सू. अ. १८)

रसोंका वातादि दोषों पर प्रभाव

शरीरको धारण करने, बढ़ाने ओर चलाते रहनेके लिये वात-पित्त और कफ नामक तीन दोषोंकी क्रिया रात-दिन सतत चलती रहती है। ये तीनों शरीरको धारण करते हैं, इसलिए धातु भी कहलाते हैं और ये परस्पर एक दूसरे को दूषित करते हैं तथा रस-रक्तादिको भी दूषित किया करते हैं, इसलिये दोष कहलाते हैं। ये जब अविकृत अर्थात् शुद्ध, समान और शरीरके लिये आवश्यक स्वरूप परिमाण और अंशमें रहते हैं तब शरीरकी रक्षा करते हैं, किन्तु ये जब विकृत, दूषित, क्षीण

अथवा कुपित अवस्थामें रहते हैं तब शीघ्र अथवा विलम्बसे, सहसा अथवा धीरे-धीरे शरीरका नाश तक कर सकते हैं। ये तीनों वात, पित्त और कफ सारे शरीरमें व्याप्त हैं, तथापि पेटके नीचे पेडूकी जगह वायुका मुख्य स्थान है। पेटसे लेकर यकृत् और प्लीहा सहित हृदयके नीचे तक पित्तका मुख्य स्थान है और हृदयसे ऊपर छातीमें कफके रहने का मुख्य स्थान है। लड़कपनमें कफकी, जवानीमें पित्तकी और बुढ़ापेमें वायुकी प्रबलता रहती है। इसी तरह दिन और रातमें ६ से १० बजे तक चार घण्टे तक कफकी, १० से २ बजे तक दिन तथा रातमें पित्तकी और दो बजेसे छः तक दिनके सन्ध्या समय अथवा रातके तड़के वायुकी प्रबलता रहती है। इसी तरह भोजन करनेके बाद जब आमाशयमें आहारकी मन्थन-क्रिया होती है तब कफकी प्रबलता होती और जब आहार माँडके समान आम रूपमें ग्रहणी द्वारा आंतोंमें जा पहुँचता है और वहां उसका रसाकर्षण होकर उससे मल-मूत्र, और रसका विभाग होनेके पहले तक पित्तकी क्रिया होती है। इसके बाद मलको बड़ी आंतमें, मूत्रको मूत्राशयमें और रसको रक्त बनानेके लिये यकृत्-पित्ताशयमें ठेलकर पहुँचानेके समय वायुकी क्रिया होती है। इन तीनों दोषोंकी शक्तिके प्रभावसे शारीरिक अग्नि चार प्रकारका होता है। यदि वायुकी अधिकता हो तो पाचक अग्नि विषम अवस्थामें रहता है अर्थात् कभी तो आहारको पचा सकता है और कभी ठीक ठीक नहीं पचा सकता, अतएव उसे विषमाग्नि कहते हैं। यदि शरीरमें पित्तकी अधिकता हो तो पाचकाग्नि अधिक गर्मी पाकर और भी अधिक प्रबल हो जाता है और वह आहारको बहुत शीघ्र पचा डालता है और कभी कभी जला भी देता है, विदग्ध कर देता है, उसे तीक्ष्णाग्नि कहते हैं। जब शरीरमें कफकी अधिकता होती है तब पाचकाग्निको उससे विरुद्ध गुण होनेके कारण (कफ शीत और जल रूप है और पाचकाग्नि उष्ण और अग्निरूप है) विशेष सहायता नहीं पहुँचती। इसलिये वह पाचन-क्रियाका काम मन्द गतिसे कर पाता है और उसे मन्दाग्नि कहते हैं। जब वात-पित्त और कफ समान अवस्थामें रहते हैं तब अग्निको उनसे आवश्यक अच्छी सहायता मिलती है और वह अन्नको पूर्ण और समुचित रूपमें पचानेमें समर्थ होता है; अतएव उसे समाग्नि कहते हैं। इसी तरह इन दोषोंके प्रभावके कारण कोठा अर्थात् मलाशयकी क्रिया भी चार प्रकारकी होती है। वायुकी प्रबलता होनेपर मल सूख जाता है, कुछ श्यामता लिये रहता है और मल विसर्जनकी क्रिया ठीक ठीक नहीं होती उसे क्रूरकोठा कहते हैं। कोठेमें पित्तका प्रभाव अधिक होनेसे मल पतला और पीला रहता है। दस्त सरलतासे हो जाया करता है, ऐसे कोठेको मृदुकोठा कहते हैं। जब कोठेमें कफकी प्रबलता रहती है, तब मल कुछ ढीला, सफेदी लिये कुछ कुछ आंव या सफेद झागसे लिपटा; किन्तु मध्यम स्थितिमें हुआ करता है। उसे मध्यकोठा कहते हैं। यदि तीनों दोष समान अवस्थामें

हों तो मल न बहुत ढीला न बहुत गाढ़ा असली स्वरूपमें रहता है और पाखाना साफ हो जाया करता है, उसे मध्यमोत्तम कोठा कहते हैं। शरीरमें इन तीनों दोषोंके प्रभावका आरम्भ गर्भधारणके समयसे ही पड़ जाता है। माताके रज और पिताके शुक्रका मिलाप होकर गर्भकोषमें उसकी स्थिति होनेपर जिस जिस दोषकी जिस क्रमसे अधिकता होती है, उसी क्रमसे बालककी प्रकृति बनती है। वायुकी प्रबलता होनेसे हीन प्रकृति, पित्तकी प्रबलता होनेसे मध्यम प्रकृति और कफकी अधिकता होनेसे उत्तम प्रकृति बनती है। यदि तीनों दोष समान अवस्थामें हों तो श्रेष्ठ प्रकृति बनती है। और यदि दो दोषोंका प्रभाव रहे तो निन्द्य प्रकृति बनती है। इसके बाद गर्भावस्थामें माताके रहन-सहन और आहार-विहारके अनुसार ये दोष पुष्ट होते हैं। और फिर पैदा होने और बढ़नेपर हमारे आहार-विहारके अनुरूप उनकी स्थिति रहती है। इन तीनों दोषोंमेंसे वायु-रूक्ष, हलका, शीत, खरखरा, सूक्ष्म और गमनशील है। पित्त-कुछ चिकना, तीक्ष्ण (शीघ्र क्रिया करनेवाला), उष्ण, हलका, विसैंधा-मछलीकीसी हरियाँईंध वासवाला, प्रसरणशील (फैलनेवाला) और द्रव अर्थात् पतला है। कफ-स्निग्ध, शीत, मन्द (धीरे क्रिया करनेवाला), श्लक्ष्ण (लिलबिला), मृत्स्न (कोमल, किसी किसीके मतमें मुर्देकी सी वासवाला) और स्थिर (व्याप्तिशील) है। इनमेंसे यदि दो का मेल होकर प्रबलता हो अथवा दो का क्षय हो तो संसर्गज प्रकोप अथवा क्षय कहते हैं। तीनोंका प्रकोप अथवा क्षय होनेसे उसे सन्निपात कहते हैं। इनमेंसे वायु स्वयं वायुसे उत्पन्न हुआ है अर्थात् वायुकी योनि वायु ही है। पित्तकी उत्पत्ति अग्निसे है अर्थात् पित्तकी योनि अग्नि है। कफकी उत्पत्ति सोमसे है अर्थात् कफकी योनि सोम अथवा जल है। मतलब यह है कि शरीरमें सम्पूर्ण गतिशील और क्रियाशील कार्योंका कर्ता वायु है। शरीरमें उष्णता-दहन-पचन आदि कार्योंका कर्ता पित्त है। और शरीरमें तरावट, चिकनई, स्थिरता आदि रखनेकी क्रिया करनेवाला कफ है। इन्हीं तीन प्रकारके शक्तिसमूहसे सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार चल रहा है। सारांश यह कि मनुष्योंकी आरोग्यता अथवा रोग-स्थिति इन्हीं तीनोंपर निर्भर है। यदि ये तीनों दोष समान अवस्थामें रहें तो आरोग्यता रहती है और यदि विषम अर्थात् बिगड़ी हुई अवस्थामें रहें तो मनुष्य रोगी रहता है। आचार्य वाग्भट कहते हैं—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हुआ कि शारीरिक तीनों दोषोंको शुद्ध और समान अवस्थामें रखना कितना आवश्यक है। इनके शुद्ध अथवा दूषित होनेमें आहार-द्रव्योंके रस कारण होते हैं। अर्थात् रसोंपर इन दोषोंका प्रभाव पड़ता है। एक तरहसे यों भी कहा जा सकता है कि आहारीय रसोंपर ही यह निर्भर है कि हम

आरोग्य और हट्टे-कट्टे रह सकें अथवा क्षीण और बीमार रहकर दुःखसे अपनी जिन्दगी बितावें। इसलिये जीवनकी आवश्यकताओंमें यह जानना सबसे अधिक आवश्यक है कि हमारे भोजनके पदार्थों और उनमें स्थित रसों का हमारे शरीर स्थित दोषों पर अर्थात् हमारे शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है। छः हो रसोंका योग्य रीतिसे उपयोग किया जाय तो वे शरीर को रक्षा करते हैं और उन्हीं का अयोग्य रीतिसे उपयोग किया जाय तो वेही रस दोषोंको कुपित कर शरीर का नाश करते हैं। इन रसोंकी शक्तिके सम्बन्धमें वाग्भट कहते हैं—

यथापूर्वं बलावहाः।

अर्थात् ये छहों रस यथापूर्व बलवान हैं। मतलब यह कि सबसे कम शक्ति-वाला कषाय रस है और उसके पूर्व अर्थात् पहलेका कटु उससे अधिक, कटुसे अधिक तिक्त, तिक्तसे अधिक लवण, लवणसे अधिक अम्ल और अम्लसे अधिक शक्तिवाला मधुर रस है। इसे यों भी कह सकते हैं कि मधुर रस सबसे अधिक शक्तिवाला है और क्रमसे उसके बाद वाले कम शक्तिवाले होते हैं।

रसोंमें दोषोंकी उत्पत्ति और शान्ति

इन छः रसोंमेंसे तीन-तीन रस मिलकर एक-एक दोषको उत्पन्न करते और तीन ही तीन रस मिल कर एक-एक दोषको शान्त भी करते हैं। इस विषयमें आचार्य वाग्भटने बहुत संक्षेपमें खूबीके साथ समझाया है—

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥

अर्थात् आदिके तीन रस मधुर—अम्ल और लवण वायुका नाश करते हैं अर्थात् वायुको शमन कर शान्त करते हैं और बाकी बचे हुए तीन तिक्त-कटु-कषाय वायुको उत्पन्न करते अर्थात् बढ़ाते हैं। इसी तरह कषाय, तिक्त और मधुर पित्तका शमन करते हैं और बाकी बचे तीन अम्ल, लवण और कटु पित्तको उत्पन्न करते अर्थात् बढ़ाते हैं। इसी तरह तिक्त, कटु, कषाय कफका शमन करते हैं और बाकी बचे तीन मधुर, अम्ल और लवण कफको उत्पन्न करते अर्थात् बढ़ाते हैं। इस क्रममें हारीतसंहिताकार महर्षि हारीत का मतभेद है। वे तीन-तीन रसों को एक एकका प्रकोपक अथवा शमनकर्ता नहीं मानते, उन्हें दो दो का क्रम माननीय है यथा—

द्वयं द्वयं वातकफप्रकोपनं, द्वयं तथा पित्तकरं वदन्ति।

अर्थात् इनमेंसे दो-दो रस वात और कफका प्रकोप करते हैं और दो ही पित्त को बढ़ाते हैं। अब उनके इस क्रम को भी सुन लीजियेः—

क्षारः कषायः पवनप्रकोपी, स्वादुश्च तिक्तः कफकोपनश्च।
कट्वम्लकौ पित्तविकारकारिणौ, कट्वम्लकौ वातशमौ प्रदिष्टौ॥
पित्तस्य नाशी मधुरः सतिक्तः कटुः कषायः शमनौ कफस्य।
अन्योन्यमेतच्छमनं वदन्ति परस्परं दोषविवृद्धिमन्तः॥

अर्थात् क्षार (लवणके बदलेमें लिया है) और कषाय रस वायुका प्रकोप करते हैं, कटु और अम्लरस पित्त को बिगाड़ते हैं और मधुर तथा तिक्तरस कफका प्रकोप करते हैं। इसी तरह कटु और अम्ल रस वायु का शमन करते हैं। मधुर और तिक्तरस पित्तका नाश करते हैं और कटु तथा कषायरस कफका शमन करते हैं। इसी ढंग पर आपसमें मिले हुए रस बढ़े हुए दोषको जो उसके शमनकारी होंगे वे शमन करते हैं। और शान्त या क्षीण दोषको उभाड़ना हो तो उसके प्रकोपकारी का उपयोग होनेसे वृद्धि को पाते हैं। अब देखना यह है कि अन्य आचार्योंके मतमें और इस मतमें क्या अन्तर है। सबसे पहले मतभेदकी बात तो ऊपर ही दिखाई पड़ती है, महर्षि हारीत (या जो हारीतसंहिताके कर्ता हों; क्योंकि हमें वर्तमान हारीतसंहिता महर्षि हारीत प्रणीत-होनेमें सन्देह है। यह ग्रन्थ महर्षि आत्रेय और हारीतके संवादरूपमें लिखा गया है और महर्षि आत्रेय तीन तीनका क्रम माननेवाले हैं और क्षारको वे रस मानते ही नहीं। यदि इसे आत्रेयने हारीतसे कहा होता तो यह विरोध दिखना सम्भव ही नहीं था) क्षारको रस मानते हैं और उसे लवणके स्थानमें उपयुक्त करते हैं। क्षारमें और लवणमें क्या अन्तर है। इसका विवेचन पहिले हो चुका है खैर हम क्षार को लवणका पर्यायी मान कार्य-निर्वाह करते-चलते हैं। इसमें वायुके प्रकोपकारी क्षार और कषाय रस माने हैं परन्तु प्रारम्भके प्रतिपादित मतमें लवणका नाम नहीं आया। हाँ, क्षार कटु रस होनेके कारण वायु-प्रकोपी हो सकता है; किन्तु क्षार स्वतन्त्र रस हीन हीं है वह तो द्रव्य है। इसमें कफके कोपकारी मधुर और तिक्त को मानते हैं ऊपरके मतमें तिक्तका कहीं नाम ही नहीं; बल्कि तिक्त कफप्रशमनकारी माना गया है और हम देखते हैं कि लवङ्गादि वटीमें तिक्त और कषायरस प्रयुक्त होकर कफका अवश्य नाश करते हैं। हारीतने कटु और अम्ल को पित्तको कुपित करनेवाला कहा है। इसमें ऊपरके मतमें अन्तर नहीं है। जो हो इस मतभेदको हम प्रधानता देनेके लिये तैयार नहीं हैं। क्योंकि प्रथम प्रतिपादित मतका ही समर्थन चरक-सुश्रुत-वाग्भट तीनों प्रधान आयुर्वेदाचार्य करते हैं।

रसोंका दोषों पर प्रभाव

मधुर—मधुररसके सम्बन्धमें चरक सूत्रस्थान अध्याय २६ में 'पित्त-विष-मारुतघ्नः' कहा गया है। अर्थात् मधुररस पित्त और वायु दोषको नष्ट करनेवाला है।

इसी प्रकार मधुररसके अतिसेवनसे कफकी वृद्धि कर कई रोग उत्पन्न करनेका उल्लेख है। 'कफजान् विकारानुपजनयति' चरकसूत्रस्थानके प्रथम अध्यायमें वाग्भटके समान ही लिखा गया है—

स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषायस्वादुतिक्तकाः ।
जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषाय-कटु-तिक्तकाः ॥
कट्वम्ललवणाः पित्तं, स्वाद्वम्ललवणाः कफम् ।
कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम् ॥

अर्थात् मधुर—अम्ल और लवणरस वायुको नष्ट करते हैं, कषाय-मधुर और तिक्तरस पित्त दोषको जीतते हैं और कषाय-कटु-तिक्त रस कफको नष्ट करनेवाले हैं। इसी प्रकार कटु-अम्ल और लवणरस पित्तको प्रकुपित करनेवाले हैं। स्वादु-अम्ल-लवण रस कफको प्रकुपित करनेवाले हैं। कटु-तिक्त और कषायरस वायुका प्रकोप करनेवाले हैं।

द्रव्य अपने रसके द्वारा जिस दोषको बढ़ाता या शमन करता है अपने विपाक द्वारा भी वही गुण-दोष करनेवाला होता है। जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें मधुर तथा शीतवीर्य होगा वह पित्तका प्रशमन और कफका वर्धन करेगा। जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें अम्ल तथा उष्णवीर्य होगा वह वातका शमन और पित्तका प्रकोप करनेवाला होगा। जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें कटु तथा उष्णवीर्य होगा वह कफको नष्ट करनेवाला होगा।

अनूपदेशके जलजन्तुओंका मांस मधुर रस होने पर पित्तको नष्ट करनेके बदले उष्णवीर्य होनेके कारण पित्तको बढ़ाता है।

अम्ल—अम्लरसके सम्बन्धमें चरकने 'वातमनुलोमयति' कहकर वातका अनुलोमन करनेवाला कहा है और अधिक अम्लरसके सेवनसे 'कफं विलापयति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति' कफको पतला करने, पित्तको बढ़ाने और रक्तको दूषित करनेवाला कहा है। अम्लरस यद्यपि उष्ण है किन्तु साथही स्निग्ध भी है अत एव मधुर और लवणकी तरह स्निग्धताके कारण और अभिष्यन्दी होनेके कारण कफकी वृद्धि करता है। वही अम्ल स्वादु-और लवणकी तरह स्निग्धत्वादि गुणोंके विपरीत वायुका शमन करता है।

कांजी अम्ल होने पर भी कफवर्धक नहीं है क्योंकि उसके रूक्ष और उष्ण स्वभावने रसको दबा दिया और वह कफको शान्त करनेवाली हो गयी।

इसी प्रकार कैथेका फल अम्ल होनेपर भी रूक्ष गुणके कारण कफवर्धक न होकर कफको शान्त करता है और पित्तको भी न उभाड़कर शीतवीर्य होनेके कारण पित्तको शान्त करता है।

आंवला अम्ल होने पर भी मधुरविपाक और शीतवीर्य होनेके कारण पित्तवर्धक न होकर पित्तनाशक होता है। यही नहीं रूक्ष तथा लघु होनेके कारण कफका भी शमन करता है।

लवण—लवणरसको चरकने 'वातहरः' अर्थात् वातनाशक कहा है। 'कफं विष्यन्दयति' कहकर कफको ढीला करनेवाला है। इसी प्रकार अधिक लवणरसके सेवनसे 'पित्तं कोपयति' कहकर पित्तका प्रकोप करनेवाला कहा है।

रसोंके दोषनाशक होनेके सम्बन्धमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि जिस द्रव्यमें रस-विपाक और वीर्यका परस्पर सजातीय एक समान अनुकूल सम्बन्ध होता है वहां रसोंके जो गुण-कर्म शास्त्रोक्त होते हैं उन्हींके अनुसार दोषोंपर प्रभाव पड़ता है; किन्तु जहां द्रव्यमें रस-विपाक और वीर्यका परस्पर विजातीय अर्थात् एक दूसरेके विरुद्ध सम्बन्ध होता है वहां जिसका बल विशेष होता है उसीके अनुसार दोषनाशक या दोषजनक प्रभाव दिखता है। उदाहरणार्थ सेंधानमक लीजिये लवण रसके कारण यह वातनाशक है; किन्तु पित्तवर्धक भी होना चाहिये किन्तु मधुरविपाकके कारण पित्तनाशक भी है। इसी तरह कफवर्धक न होकर अपने लघु गुणके कारण वह कफका भी शमन करता है।

कटु—कटुरसका कथन करते हुए चरकने उसे 'श्लेष्माणं शमयति' कहकर कफको शमन करनेवाला कहा है। और अधिक कटुरसके सेवनसे 'पार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु मारुतजान् विकारानुपजनयति' कहकर वातप्रकोपकारी कहा है। तैल रसमें मधुर होने पर भी उसका विपाक कटु है अतएव रसकी अपेक्षा विपाकका प्रभाव अधिक होनेके कारण कटुरसके समान मल-मूत्रका बर्द्धक होता है। कटुरस वाली शुण्ठी वात बढ़ानेके बदले अपने मधुर पाक और स्नेह-उष्ण गुणके कारण वातका शमन करती है। पिप्पली, लशुन और पलाण्डु स्नेह-उष्णवीर्य और भारी होनेके कारण वायुको नष्ट करनेवाले हैं। वेही स्नेह और गुरु गुणके कारण कफको बढ़ाते हैं। मूली कटु होने पर भी स्वादुपाक होनेके कारण श्लेष्मवर्धक है।

तिक्त—तिक्तरसके गुण-कर्म लिखते हुए चरकने 'पित्त-श्लेष्मोपशोषणः' लिखकर पित्तवर्धक और कफको सुखानेवाला कहा है। अधिक तिक्त रसके सेवनसे 'अपरांश्च वातविकारानुपजनयति' भ्रम-मोह आदि बहुतसे वात विकार उत्पन्न करनेवाला कहा है। तिक्तरस होनेके कारण भटकटैया, विशल्या, अर्क और अगुरु पित्तनाशक होना चाहिये, परन्तु उष्ण वीर्य होनेके कारण उस गुणको न प्रकट कर पित्तकारक होते हैं। यहांके प्रभावने वीर्यको हीन कर दिया। इसी तरह कषाय और तिक्त गुणयुक्त बृहत्पंचमूल वातकारक और पित्तनाशक होना चाहिये; किन्तु उष्णवीर्य होनेके कारण वह वातनाशक तथा पित्तवर्धक होता है।

कषाय—कषाय रसके सम्बन्धमें अष्टांगहृदयके सूत्रस्थान अध्याय १० में कहा गया है कि 'कषायः पित्तकफहा गुरुरस्त्रविशोधनः' अर्थात् कषायरस पित्त और कफको नष्ट करनेवाला है, भारी और रक्तशोधक है। कषायके गुण-कर्म लिखते हुए चरकने 'श्लेष्म-रक्त-पित्तप्रशमनः' कहकर श्लेष्मनाशक, रक्तशोधक और पित्तको शमन करनेवाला कहा है। कषायरसके अधिक सेवनसे 'वातविकारानुपजनयति' लिखकर वातविकार उत्पन्न करनेवाला कहा है।

रसके दोष—प्रभावमें कभी कभी अन्य गुणोंके कारण अन्तर भी पड़ जाता है। जैसे मधु मधुर होनेके कारण कफवर्धक होना चाहिये परन्तु कटुविपाकी, कषाय रस और रूक्ष होनेके कारण श्लेष्माको नष्ट करनेवाला होता है; और शीतवीर्य होनेके कारण वायुको बढ़ाता है कुलथी कषाय रसवाली है किन्तु अम्लविपाक होनेके कारण वायुका शमन करती है; पित्तका नहीं।

काश्यपसंहिताका उपदेश है कि कफज रोगोंमें कटु-तिक्त और कषाय रसके द्रव्योंका उपयोग करे। प्रारम्भमें कटु रसका उपयोग करनेसे कफकी पिच्छिलता और गौरवका नाश होता है। उसके बाद तिक्त रसका प्रयोग करनेसे मुखकी मधुरता नष्ट होती है। और कफ सूखता है। अन्तमें कषाय रसका प्रयोग करनेसे वह कफको गाढ़ा करता है और कफके स्नेहांशको दूर करता है।

पैत्तिक रोगमें तिक्त-मधुर और कषाय रसका क्रमसे प्रयोग करना चाहिये। पैत्तिक रोगमें पहले तिक्त रसका प्रयोग करनेसे वह आमपित्तको पकाता है। फिर मधुर रसका प्रयोग करनेसे वह अपने शीत-गुरु और स्निग्ध गुणोंसे पित्तके प्रकोपको शान्त करता है। अन्तमें कषाय रसका प्रयोग करनेसे वह अपनी रूक्षता और शोषण करनेके गुणसे पित्तकी द्रवताका नाश करता है।

वातजन्य रोगोंमें क्रमसे लवण, अम्ल और मधुर रसका उपयोग करना चाहिये। वातज रोगोंमें आरम्भमें लवणरसका उपयोग करनेसे वह अपने प्रक्लेदी गुणसे वायुके विबन्धको, उष्णतासे वायुके शीतत्वको और गुरुतासे वायुके लाघवको दूर करता है। इसके बाद अम्लरसका उपयोग करनेसे वह अपने तीक्ष्ण-स्निग्ध और उष्ण गुणसे वायुके अवरुद्ध स्रोतोंको खोलकर विमार्गगामी हुए वायुका अनुलोमन करता है। अन्तमें मधुर रसका उपयोग करनेसे वह अपने गुरु, पिच्छिल और स्निग्ध गुणसे वायुके लघुत्व, वैशद्य और रूक्षत्वका नाश करके वायुका शमन करता है।

—०—

प्रकोप और शमनका रहस्य

ऊपर इस बातका विवेचन हुआ है कि कौन रस किस दोषको प्रकुपित करते हैं और कौन उन्हें शान्त करते हैं। अब हम यह दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि

यह प्रकोप और प्रशमनकी क्रिया किस तत्त्व और वैज्ञानिक पद्धतिसे सम्पादित होती है। वृद्धि और क्षय, प्रकोप और शमन का यह साधारण सिद्धान्त है कि जो द्रव्यगुण और क्रिया जिसके अनुकूल होगी वह अनुकूलका आश्रय पाकर अपने समान द्रव्य गुण और क्रिया को बढ़ावेगी और विपरीतका आश्रय पाकर उसका क्षय करेगी। आचार्य वाग्भट ने कहा है :—

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः।

अर्थात् शरीरके आश्रयभूत रहनेवाले दोष-धातु और मलकी वृद्धि अपने समान गुणके पदार्थोंसे होती है और उनका क्षय उनके विरुद्धगुणोंके पदार्थोंसे होती है। क्योंकि—

सर्वेषां सर्वदा वृद्धिस्तुल्यद्रव्यगुणक्रियैः।
भावैर्भवति भावानां विपरीतैर्विपर्ययः॥

अर्थात् समान अथवा विपरीत गुणके पदार्थ द्रव्य-गुण-कर्म तीन प्रकारके हैं। जो जिस भाव अर्थात् गुण का होता है उससे उसकी वृद्धि और विपरीत गुणवालेसे विपर्यय अर्थात् क्षय होता है। अब इस समानताको उदाहरण द्वारा समझाते हैं। जैसे रक्तसे रक्तकी वृद्धि होती है, मांससे मांस बढ़ता है, दूध पार्थिव और जल तत्त्व प्रधान होनेके कारण उसी प्रकारके द्रव्य कफको बढ़ाता है। इसी तरह दूधसे उत्पन्न हुआ घी शुक्रको बढ़ाता है। जीवन्ती, काकोली आदि सोमतत्त्व—प्रधान वनस्पति सोमात्मक कफधातुसे उत्पन्न होने वाले स्नेह-शक्ति-पुरुषत्व तथा ओजको बढ़ाती हैं। मिर्च, चव्य, चीता आदि ओषधियां अग्नितत्त्वप्रधान होनेसे बुद्धि-मेधा-अग्निको बढ़ाती हैं। यह द्रव्यकी समानतासे होनेवाली वृद्धिके उदाहरण हुए। नारियल, केला, खजूर, छुहारे आदि पदार्थ पृथ्वीतत्त्व-प्रधान होनेपर भी गुणोंमें स्निग्ध, भारी और शीत होनेके कारण इसी गुणके जलतत्त्वप्रधान कफको बढ़ाते हैं। यह गुणसम्बन्धी वृद्धिका उदाहरण हुआ है। अब रही क्रिया, सो क्रिया दो प्रकारकी होती है शारीरिक और मानसिक। दौड़ना, कूदना, चलना, तैरना, लंघन आदि शारीरिक क्रिया हैं; काम-क्रोध-शोक-चिन्ता आदि मानसिक क्रिया हैं। दौड़ने, कूदने, चलनेकी क्रिया गमनशील वायुके समानधर्मी है; इसलिये इन क्रियाओंसे वायुकी वृद्धि होती है। काम-शोक-चिन्ता आदिसे मनका क्षोभ होता है। इसलिये इनसे वायुकी वृद्धि होती है। क्रोध-ईर्ष्या आदि क्रिया और पित्त दोनोंमें सन्ताप उत्पन्न करनेका समान धर्म है। इसलिये क्रोध-ईर्ष्यादिसे पित्तकी वृद्धि होती है। निद्रा-आलस्य और एक जगह निश्चेष्ट बैठे रहनेका मेल स्थिर और मन्द कफके धर्मसे मिलता है। अत एव आलस्य-निद्रा और एक जगह बैठे रहनेसे कफकी वृद्धिके उदाहरण हुए। अब विपरीतके उदाहरण लीजिये, वातात्मक

फसईके चावलसे पार्थिव मांसादिका चय होता है। अग्नितत्त्व-प्रधान चारोंसे जलतत्त्वप्रधान कफका चय होता है। कांजी स्वतः जलतत्त्वप्रधान होने पर भी जलतत्त्वप्रधान कफके विरुद्ध लघुता-रूक्षता-उष्णता आदि गुण उसमें हैं; इसलिये कांजी कफको नष्ट करती है। निद्रा, आलस्य आदि स्थिर क्रिया होनेके कारण इनसे गमनशील वायुका चय होता है।

रसों का दोषजनकत्व और शमनत्व

रस किस प्रकार दोषोंको उत्पन्न करते तथा किस प्रकार शमन करते हैं इसके सम्बन्धमें चरक विमानस्थानके प्रथम अध्यायमें अच्छा वर्णन आया है—

रस-दोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः। इत्येतद्व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां त्रित्वं च दोषाणाम्।

अर्थात् जब शरीरके अन्दर मधुरादि रस और वातादि दोषोंका सन्निपात या मेल होता है तब जो रस जिन दोषोंके समान गुणवाले या समान गुणकी अधिकतावाले होते हैं (गुणा गुणाश्रया नोक्ताः-के अनुसार) वे बारम्बार अभ्यास करने या सेवन करनेसे उन्हें बढ़ाते हैं। इसी प्रकार जो रस जिन दोषोंके विपरीत गुणवाले या विपरीत गुणोंकी अधिकतावाले होते हैं वे बारम्बार अभ्यास करने या सेवन करनेसे उन्हें शान्त करते हैं। इस प्रकारकी व्यवस्थाके लिए परस्पर असंयुक्त रसोंका ६ प्रकार और दोषोंका तीन प्रकार कहा गया है। इस प्रकार एक बारके सेवनसे ही नहीं बारम्बारके सेवनसे होता है। यहां सन्निपात पदका उपयोग रस और दोषोंके सम-समवेत रूपके लिये हुआ है। रस अर्थात् उस रसके आश्रित द्रव्य और दोषोंके समान गुण, समान प्रकृति या समान गुणभूयिष्ठ होने चाहिये। उदाहरणार्थ कटु-तिक्त-कषाय द्रव्य वातके समान गुणवाले और कफके विपरीत गुणवाले हैं और पित्तके लिये विपरीत गुणभूयिष्ठ हैं। मधुर-अम्ल-लवण कफके लिये समानगुण, वातके किये विपरीतगुण और पित्तके लिये समानगुणभूयिष्ठ होंगे। इस प्रकार बराबर सेवन करनेसे वे दोषवर्धक या दोषशामक हो सकते हैं। जो रस जिन दोषोंके लिये विपरीत गुणवाले या विपरीत गुणभूयिष्ठ होंगे वह रस अभ्यासमें लेनेसे उन दोषोंका शमन करेंगे।

चय और वृद्धिके इसी सिद्धान्तके अनुकूल जिस समय रस और दोषोंका संयोग होता है, उस समय जो रस जिस दोषका समान गुणकारी अथवा समान गुणभूयिष्ठ (समान गुणमें अधिकता) होता है, वह रस उसी दोषको बढ़ाता है। उदाहरणार्थ कटुरस और वायु समानगुणी हैं; इसलिये भोजन-पदार्थोंमें कटुरसका

उपयोग करनेसे वह वायुसे संयोग पाकर वायुके बढ़ानेका कारण होगा। समान गुणभूयिष्ठका यह तात्पर्य है कि वायुको बढ़ानेवाले दो-तीन रसोंका सेवन किया जाय तो वायुकी और भी अधिक वृद्धि होगी इसी प्रकार विरुद्ध गुणकारी अथवा विरुद्ध गुणभूयिष्ठ रसोंका सेवन करनेसे वे ही बढ़े हुए दोष कम होते हैं। जैसे कटुरस और कफदोष परस्पर विरुद्धगुण वाले हैं; अतएव कटुरसके सेवनसे कफकी शान्ति होती है। इसीलिये आपसमें जो मिश्रित नहीं हैं, ऐसे स्वतन्त्र रसोंके छः भेद और परस्पर मिश्रित न होने वाले दोषोंके तीन भेदमें वृद्धि-क्षयका प्रभाव पड़ता है वह लिखा गया। किन्तु इन रसों और दोषोंके संयोगसे विकल्पकरके बहुत विस्तार हो सकता है। विकल्पके असंख्य भेद हैं; इसलिये रससंयोग और दोषसंयोगके असंख्य विकल्पभेद कर गुण-धर्मोंके भी असंख्य भेद होंगे।

मिलित रसोंके द्रव्योंका गुणज्ञान

न तो साधारणतः भारतीय आहार-द्रव्योंमें एक ही रसवाले या एक ही ढंगके द्रव्य होते और न भारतीय ओषधियोंमें एक ही द्रव्यको लेकर ओषधिप्रयोग होता है। आहार-द्रव्योंमें रोटी, दाल, भात, शाक, कढी, चटनी, गरम मसाला, हल्दी, मिर्चा, काली मिर्च आदि ऐसे द्रव्य होते हैं जिनमें प्रायः छहो रसोंका समावेश हो जाता है और ओषधियोंमें भी चूर्ण, वटी, आसव अवलेह, क्वाथ आदि ऐसे कल्प होते हैं जिनमें अनेक द्रव्य होते हैं। ऐसी दशामें अनेक रसों वाले, अनेक दोषोंवाले रोग व्यवहार रस और दोषका विचार करना सहज नहीं होगा। चरकसंहिताके विमान स्थान १ अध्यायमें इस जटिलताका भी गहरा विचार किया गया है—

'तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रस-दोष-प्रभावमेकैकश्येनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्य-विकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्। न त्वेवं खलु सर्वत्रः नहि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेनैव समुदाय-प्रभावतत्त्वमेवोपलभ्य ततो द्रव्य-विकारप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्।'

अर्थात् अनेक रसों वाले द्रव्योंमें तथा अनेक दोषों वाले रोगोंमें प्रत्येक रस और दोषका जो अलग-अलग प्रभाव कहा गया है, उसे देखकर उस द्रव्य या विकारके प्रभावका निर्णय करना चाहिये। यह न्याय जिस द्रव्यमें अनेक रसोंका और जिस रोगमें अनेक दोषोंका स्वाभाविक रीतिसे कारणानुरूप समवाय-मिलन हुआ हो ऐसे प्रकृतिसमसमवेत द्रव्य और रोगमें ही लाभ होता है। परन्तु यह नियम प्रकृतिसमसमवेतको छोड़कर अन्यत्र विकृतिविषमसमवेतमें लागू नहीं हो सकता। क्योंकि जिस द्रव्यमें रसोंका अस्वाभाविक रीतिसे कारणोंके अननुरूप

संयोग हुआ है, जिसमें रसोंके गुणोंका परस्पर उपघात हुआ है और जिसकी अनेक प्रकार की कल्क-स्वरसादि-कल्पनाएं की गयी हैं; ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्यमें एक एक रसका जो प्रभाव कहा गया है उससे समुदायके प्रभावका यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। इसी प्रकार विकृतिविषमसमवेत रोगमें भी एक एक दोषके प्रभावको देखकर समुदायके प्रभावका निर्णय नहीं हो सकता। ऐसे विकृति-विषमसमवेत द्रव्य और रोगमें अवयव-प्रभावसे नहीं परन्तु समुदाय-प्रभाव (मिले हुए रसों और दोषोंके प्रभाव)को देखकर द्रव्य और रोगके प्रभावका निर्णय करना चाहिये।

यहां 'प्रकृतिसमसमवायको भी समझ लेना चाहिये। 'प्रकृत्या समः कारणानुरूपः समवायः प्रकृतिसमसमवायः' जो समवाय सम्बन्ध द्रव्यमें पञ्चमहाभूतों तथा रसोंका और रोगमें दोष-दूष्योंका स्वाभाविकरीत्या सम अर्थात् कारणानुरूप होता है उसे प्रकृतिसमसमवाय कहते हैं। इस प्रकारके सम्बन्धसे मिले हुए रसों और दोषोंको प्रकृतिसमसमवेत कहते हैं। इसी प्रकार 'विकृत्या विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः। अर्थात् द्रव्यमें पञ्चमहाभूतों और रसोंका तथा रोगमें दोष-दूष्योंका विकृतिसे अस्वाभाविक रूपमें कारणोंके अननुरूप जो सम्बन्ध होता है उसको विकृतिविषमसमवाय कहते हैं। और इस प्रकारके सम्बन्धसे संयुक्तरसों और दोषोंको विकृतिविषमसमवेत कहते हैं। प्रकृतिसमसमवेत द्रव्यमें कारणके अनुरूप कार्य होता है। जैसे वंशलोचन और मिश्रीके बनाये हुए चूर्णमें रस-रूप-गुणादि समुदायमें भी अवयवानुरूपही होते हैं। इसलिये ऐसे समवायमें (मिले हुए द्रव्यमें) अवयवभूतरसों या द्रव्योंके प्रभावको देखकर उन परसे समवायके प्रभावका निर्णय हो सकता है। परन्तु विकृतिविषमसमवेत द्रव्यमें कारणके अनुरूप नहीं ऐसे भिन्न ही रूप-रस-प्रभावादि उत्पन्न होते हैं। जैसे पारद और गन्धकके संयोगसे बनी हुई कज्जली या रससिन्दूरमें दोनोंकी अपेक्षया भिन्न ही रूपादि उत्पन्न होते हैं। अतः ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्योंमें समुदायके प्रभावको देखकर ही द्रव्य-प्रभावका निर्णय करना चाहिये। दोष अपने स्थानमें कुपित होकर जो व्याधि उत्पन्न करता है, उसका समझना सहज है; किन्तु स्थानसे उन्मार्गगामी होकर वह जब अनेक विकार प्रकट करता है तो सोच समझकर निर्णय करना पड़ता है। जो रसों और दोषोंका मेल प्रकृतिके अनुगुण होता है उस प्राकृतगुणानुपमर्द विधिसे मिले हुए मेलको ही प्रकृतिसमसमवाय कहा जाता है। जो प्राकृत गुणोंका उपमर्द कर होता है उसे विकृतिविषमसमवाय कहते हैं। अर्थात् वह विकृतिके हेतुभूतसे विषम प्रकृतिका अननुगुण समवाय है अतएव विकृतिविषमसमवाय है।

इस प्रकार अनेक रसयुक्त पदार्थों और अनेक दोषयुक्त रोगोंमें प्रत्येक रस और

उसके प्रभावकी अच्छी परीक्षा कर द्रव्यप्रभाव और विकारप्रभावका निर्णय किया जा सकता है। परन्तु सभी स्थानोंमें इस प्रकारका निर्णय होना सम्भव नहीं है। क्योंकि सब पदार्थ एक दूसरेमें इस प्रकार विकृत और विषम रूपमें मिले रहते हैं और परस्पर संयोगमें इस प्रकार एक रूप हो जाते हैं कि अन्य पदार्थोंके विकल्पोंसे विकल्पित द्रव्योंके अंशोंके प्रभावका अनुमान कर समुदायका सम्पूर्ण प्रभाव जानना असंभव नहीं तो महाकठिन अवश्य है। यह बहुत ही सूक्ष्म विचारका काम है। इस प्रकारके समुदायमें सम्पूर्ण समुदायका प्रभाव समझ लेनेपर उसीसे रस-द्रव्य और विकारके प्रभावका तत्त्वनिर्णय किया जाता है।

परस्पर रस मिलकर किस रसके गुणको बढ़ाते हैं, यह जान लेना भी आवश्यक है। इस विषयमें हारीत कहते हैं—

मधुरकटुकावन्योन्यस्य प्रकर्षविधायिनौ
लवणवियुतोऽम्लीकः प्रोक्तो विशेषरसानुगः।
अविकृतिरथो तिक्तैर्युक्तः कषायरसो लघु-
र्भवति सुतरां स्वादुः श्रेष्ठो गुणं प्रकरोति वै॥

मधुर और कटुरसका यदि परस्पर मेल हो तो वे परस्पर एक दूसरेकी शक्तिको उत्तेजित करते हैं। इनमें जो रस अधिक होगा उसका गुण भी अधिक हो जायगा। यदि खट्टे रसमें विशेषकर लवण रसका संयोग कर दिया जाय तो जिस रसकी विशेषता होगी खट्टा रस उसीका अनुगमन करेगा। अर्थात् अपने साथी विशेष रसके गुणोंको बढ़ावेगा और जिस ओर जायगा—प्रकोप अथवा शमनकी ओर—उसी ओर अम्ल भी उसके पीछे पीछे चलेगा। अर्थात् अम्लरस लवणसे मिल जानेपर विकारको प्राप्त नहीं होता। कषायरस अविकृत अवस्थामें—अपने शुद्ध रूपमें—अथवा तिक्तरससे संयुक्त होने पर हलका होता है, अर्थात् उसका विपाक शीघ्र होता है। मधुररस अच्छी तरह सेवन किया जावे और उसीकी विशेषता रहे तो चाहे उसमें अन्य रसोंका संयोग भी हो जाय तो वह अपना गुण प्रकट करता ही है; क्योंकि वह अन्य रसोंसे अधिक शक्तिशाली है। इसी तरह—

कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्।
कट्वम्ललवणाः पित्तं स्वाद्वम्ललवणाः कफम्॥

कटु-तिक्त और कषायरस परस्पर मिलनेसे वायुका प्रकोप करते हैं। कटु अम्ल और लवणरस पित्तका प्रकोप करते हैं। मधुर-अम्ल और लवणरस परस्पर मिलनेसे कफका प्रकोप करते हैं। इसी तरह—

समीरणे तु नो देयाः कटुतिक्तकषायकाः।
पित्ते कट्वम्ललवणाः स्वाद्वम्ललवणाः कफे॥

जिस मनुष्यमें वायुकी प्रबलता हो अथवा जो मनुष्य वायु रोगसे पीडित हो उसे कटु, तिक्त और कषाय रसवाली ओषधि और आहारद्रव्य कभी नहीं देने चाहिये; क्योंकि इनसे उसके शरीरस्थ वायुका और भी अधिक प्रकोप होगा। जिसके मिजाजमें पित्तकी अधिकता है अथवा जो पित्तप्रधान रोगसे पीड़ित है उसे कटु, अम्ल और लवण रसवाली ओषधियां और आहारद्रव्य नहीं देने चाहिये। इसी तरह कफ प्रकृतिवाले मनुष्य अथवा कफविकारसे पीड़ित रोगीको स्वादु, अम्ल और लवणरससे युक्त ओषधियां अथवा आहारद्रव्य नहीं देने चाहिये। तब फिर किस दोषवालेको क्या देना चाहिये यह बतलाते हैं—

स्वाद्वम्ललवणान्वाते, तिक्तस्वादुकषायकान् ।
पित्ते कफे तिक्तकटुकषायान् योजयेद्रसान् ॥

वायुके प्रकोपमें मधुर, खट्टा और लवण रसका उपयोग करना चाहिये। पित्ताधिक्यमें अथवा पित्तप्रकोपमें तिक्त, मधुर और कसैलेरसका प्रयोग करना चाहिये। इसी तरह कफके प्रकोपमें तिक्त, कटु और कषाय रसकी योजना करनी चाहिये। क्योंकि मधुर और अम्लरस परस्पर एक दूसरेका विरोध नहीं करते। तिक्त और कषाय रसकी मैत्री है और वे परस्पर एक दूसरेका विरोध नहीं करते। इसी तरह लवण और कटुरस परस्पर मित्र हैं और एक दूसरे का विरोध नहीं करते। कहा है—

'मधुराम्लौ, क्षारकटुकौ, तिक्तकषायकौ चेत्येतावन्योन्यरसविरोधिनौ न भवेताम् ।'

नीचे लिखे विवरणसे इस रहस्यका और भी अच्छी तरह उद्घाटन होगा—

सुश्रुतका मत भी रसोंके दोष-प्रभाव सम्बन्धमें चरक और वाग्भटके समान ही है। इसका सिद्धान्त बताते हुए वे कहते हैं कि वातदोषकी उत्पत्ति वायु महाभूतसे होती है, पित्तकी उत्पत्ति अग्निमहाभूतसे और कफकी उत्पत्ति सोम जलमहाभूतसे होती है। इस सिद्धान्तके अनुसार जो रस जिस महाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होता है वह स्वभावसे ही अपने उत्पादक महाभूतके दोषको बढ़ाता है। और इससे विपरीत महाभूतसे उत्पन्न होनेवाले दोषको शान्त करता है। शीत, रूक्ष, लघु, विशद और विष्टम्भ गुण वायुके हैं, इनके समान योनि और गुणवाला कषाय रस है। कषायरस अपने शैत्यसे वायुके शीतगुणको, रूक्षतासे रूक्षगुणको, लाघवसे लघुगुणको, वैशद्यसे विशदगुणको और विष्टम्भगुणसे विष्टब्धताको बढ़ाता है। अतः कषायरस सब प्रकारसे वायुको बढ़ानेवाला है। उष्णता, तीक्ष्णता, रूक्षता, लघुता और विशदता ये पित्तके गुण हैं। उसकी समान योनि और समान गुणवाला रस कटु है। अत एव कटुरस अपनी उष्णतासे पित्तकी उष्णताको,

तीक्ष्णतासे तीक्ष्णताको और रूक्षतासे रौक्ष्यको एवं विशदतासे वैशद्यको बढ़ाता है। इस प्रकार कटुरस सब प्रकारसे पित्तको बढ़ानेवाला है।

मधुरता, स्नेह, गौरव, शैत्य और पैच्छिल्य गुण कफ है। कफकी समान योनि और समान गुणवाला रस मधुर है। कफ और मधुर रस दोनों जलमहाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होते हैं। इसलिये मधुररस अपनी मधुरतासे कफके माधुर्यको, स्निग्धतासे स्नेहको, गुरुतासे गौरवको, शीततासे शैत्यको और पिच्छिलतासे पैच्छिल्यको बढ़ाता है। इस प्रकार मधुररस सब प्रकारसे कफको बढ़ानेवाला है। कफकी असमान-विरुद्ध योनि कटु रस है क्योंकि कटु रस अग्निकी और मधुररस जलकी अधिकतासे उत्पन्न होता है। इस तरह दोनों परस्पर विरुद्ध गुणवाले हैं। विरुद्ध गुणवाला होनेसे कटु रस अपने रसके प्रभावसे कफकी मधुरताको, रूक्षतासे कफके स्नेहको, लघुतासे कफके गौरवको, उष्णतासे कफके शैत्यको और विशदतासे कफकी पिच्छिलताको नष्ट करता है। अत एव कटु रस सब प्रकारसे कफका नाश करनेवाला है। कटु-तिक्त-कषायरस वातारम्भक हैं अतएव वातको बढ़ाते हैं। कटु-अम्ल और लवण अग्निकारणक हैं अतएव अग्निरूप पित्तको बढ़ाते हैं। जलकारणक मधुराम्ल हैं वे जलात्मक सौम्य हैं वे जलात्मक सौम्य श्लेष्माको बढ़ाते हैं। लवण सौम्य पृथ्वी-आरम्भक होनेसे श्लेष्माको भी बढ़ाता है।

कषायरस यद्यपि चरकमें गुरु कहा गया है तो भी अपने लघुपाकके कारण वातकी लघुताकी तुल्यता करता है। तिक्तरस यद्यपि वातयोनिवाला है तथापि तुल्ययोनिके कारण वह सदा वातवर्धक नहीं होता। कटुरस पित्तकी समानयोनिवाला है तथा श्लेष्मा और मधुररसकी समान योनि है तो भी कटुरसकी पित्तवर्धकता और मधुरकी श्लेष्मवर्धकता सदा एकसी नहीं होती। पित्त-वायुका अन्य योनिवाले मधुररससे शमन होता है। इसी प्रकार तिक्त-कषायसे श्लेष्माके शमन होनेका उदाहरण है। मधुरादिसे वातादि-प्रशमन और कट्वादिसे वातादिप्रकोपण योनिके विचारसे नहीं गुणविवेकसे होता है।

रसवैशेषिकके कुछ उदाहरण उपादेय होंगे—माधुर्य-स्नेह-गौरव-पैच्छिल्य-मार्दव-शैत्यगुणके द्वारा मधुररस कफको बढ़ाता है। क्योंकि स्वयोनि-या सजातीयके आगमसे-मेलसे दोष-धातु तथा मलोंकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार विजातीयके आगमसे उनका क्षय होता है। अम्लरस अपने उष्ण-तीक्ष्ण-गुरु और स्निग्ध गुणके द्वारा कफको विलन्न (गाढ़े कफको पतला) करता है और कफको प्रकुपित करता है। लवणरस अपने उष्ण-तीक्ष्ण-गुरु और स्निग्ध गुणसे कफको पिघलाता है। कटुरस अपने उष्ण-रूक्ष और लघु गुणसे पित्तको बढ़ाता है। अम्ल और लवणरस अपने अति विदाही उष्ण और तीक्ष्ण गुणसे पित्तको विदग्ध और प्रकुपित करता है। कषायरस अपने शैत्य-रौक्ष्य-वैशद्य और विष्टम्भताके गुणसे वायुको

बढ़ाता है। शैत्य-रौक्ष्य, वैशद्य-लाघव और मार्दव गुणोंके द्वारा तिक्तरस वायुको प्रकुपित करता है। कटुरस अपने रौक्ष्य-लाघव और कटुतासे वायुका प्रकोप करता है।

रस और योनिका प्रभाव

कुछ आचार्योंका मत है कि पृथ्वीमें अग्नि और सोम ये दो ही गुण या शक्ति काम कर रही हैं; अतएव रस भी दो ही भागोंमें विभक्त किये जासकते हैं। अर्थात् कुछ रस तो सोमगुणात्मक हैं और कुछ आग्नेयगुणवाले हैं। कार्यशक्तिके विचारसे रसोंके इस प्रकार दो भेद हो सकते हैं; किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि रस दो प्रकारके हैं। आग्नेय और सोम रसोंके धर्म हैं भेद नहीं। जो हो, जिन पदार्थों तथा दोषों और गुणोंकी योनि (उत्पत्तिका आधार) और धर्म रसोंकी योनि और धर्मके समान होते हैं, उनपर रसोंका प्रभाव अनुकूल पड़ता है; क्योंकि अपने वंश पर सभीका प्रेम होता है और जिन दोषों, पदार्थों और गुणोंकी योनि और धर्म किसी रसके योनि-धर्मसे विपरीत होते हैं, उन पर उस रसका प्रभाव प्रतिकूल पड़ता है। इसलिये थोड़ेमें इस विषयका भी दिग्दर्शन करा देना हम उचित समझते हैं।

संसारमें अग्निशक्ति और सोमशक्ति दो ही काम कर रही हैं। रसों पर भी इन शक्तियोंका प्रभाव पड़ता है।

'अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः-सौम्याश्चाग्नेयाश्च। मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः, कट्वम्ललवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ललवणाः स्निग्धा गुरवश्च; कटु-तिक्त-कषाया रूक्षा लघवश्च। सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः।'

(सुश्रुत सू. अ. ४२)

मधुर, तिक्त और कषाय रस सौम्यगुण-सम्पन्न हैं। तथा कटु-अम्ल और लवणरस आग्नेयगुण-सम्पन्न हैं। अतएव सौम्य रस शीतवीर्य और आग्नेयरस उष्णवीर्य होते हैं। मधुर, अम्ल और लवणरस स्निग्ध और गुरु हैं। तथा कटु, तिक्त और कषायरस रूक्ष और लघु हैं। अग्नि और सोम शक्तिके योनि-प्रभावसे रसके विदाही और अविदाही ऐसे दो भेद हो जाते हैं—

'कट्वम्ललवणा वैद्यैर्विदाहिन इति स्मृताः।
स्वादु-तिक्त-कषायाः स्युर्विदाहरहिता रसाः॥
विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्ति प्रयोजिताः।
विदाहरहिता मूर्च्छां शमयन्तीति निश्चितम्॥'

अर्थात् कटु-अम्ल और लवण ये तीन रसवाले द्रव्य आग्नेय होनेसे विदाही होते और मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं। तथा मधुर-तिक्त और कषाय ये तीन रस सौम्य होनेसे अविदाही हैं विदाह नहीं करते और मूर्च्छाका प्रशमन करनेवाले हैं।

शीतलता, रूक्षता, लघुता, विशदता और विष्टम्भी गुणके लक्षण वायुमें पाये जाते हैं, कषायरसमें ये ही गुण हैं; अतएव वायु और कषायरस समानयोनि हैं। इसलिये कषायरस सेवन करनेसे कषायकी शीतलताके कारण वायुकी शीतलता बढ़ती है, कषायरसकी रूक्षताके कारण वायुकी रूक्षता बढ़ती है, कषायरसके हलके होनेके कारण वायुकी लघुता अर्थात् हलकापन बढ़ता है। कषायकी विशदता (पारदर्शिता) के कारण वायुकी विशदता और पारदर्शी गुण बढ़ता है और कषायरसके विष्टम्भी होनेके कारण कषायरस-सेवनसे वायुका विष्टम्भी गुण बढ़ता है।

उष्णता, तीक्ष्णता, रूक्षता, लघुता और विशदता पित्त गुणके लक्षण हैं और कटुरस इसकी समानयोनिवाला है। इसलिये कटुरसका व्यवहार करनेसे उसकी कटुताके कारण पित्तकी कटुता, कटुरसकी उष्णताके कारण पित्तरसकी उष्णता, कटुरसकी तीक्ष्णताके कारण पित्तकी तीक्ष्णता, कटुरसकी लघुताके कारण पित्तरसकी लघुता और कटुरसकी विशदता—स्वच्छताके कारण पित्तरसकी विशदता बढ़ती है।

मधुरता, स्नेह, भारीपन, शीतलता और पिच्छिलता गुण कफके हैं, मधुररसमें भी ये गुण हैं अतएव कफ और मधुररस समानयोनि हैं। इसलिये मधुररसकी मधुरताके कारण श्लेष्माकी मधुरता, मधुररसके स्नेह गुणसे कफकी स्निग्धता, मधुररसकी गुरुतासे कफका भारीपन, मधुररसके शैत्यसे कफकी शीतलता और मधुररसकी पिच्छिलताके कारण कफकी पिच्छिलता वृद्धिको प्राप्त होती है।

कफका विरोधी अपर रस अर्थात् असमानयोनि कटुरस है। इसलिये कटुरसकी कटुताके कारण कफकी मधुरता, कटुकी रूक्षताके कारण कफकी स्निग्धता, कटुरसकी उष्णताके कारण कफकी शीतलता और कटुरसकी विशदताके कारण कफकी पिच्छिलता नष्ट होती है। पित्तकी अपरयोनि अर्थात् असमानयोनि मधुररस है। इसलिये मधुररसकी मधुरताके कारण पित्तकी कटुता, मधुररसकी शीतलताके कारण पित्तकी उष्णता, मधुररसके मन्द गुणकी शमनशक्तिके द्वारा पित्तकी तीक्ष्णता, मधुररसकी स्निग्धताके कारण रूक्षता, मधुररसकी गुरुता के कारण पित्तकी लघुता और मधुररसकी पिच्छिलताके कारण पित्तकी विशदता नष्ट होती है। वायुकी अपरयोनि अर्थात असमान योनि लवणरस है और अम्लरस इस विषयमें उसका सहायक है। इसलिये लवणरस की स्निग्धताके कारण वायुकी रूक्षता, लवणरसकी उष्णताके कारण वायुकी शीतलता, लवणरसके छेदी होनेके कारण वायुकी

विशदता, लवणरसके गुरु होनेके कारण वायुकी लघुता और लवणरसके पाचक-सारक-दीपक-स्तम्भबन्धसंघात-विधमन (वायु-मल-मूत्रादिकी स्तब्धता, बँधाव और बद्धताको दूर कर निकालनेवाला) होनेके कारण वायुकी विष्टब्धता दूर होती है।

इस प्रकार योनि-प्रभावसे रसोंमें गतिशक्ति भी उत्पन्न होती है।

'तत्राग्निमारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः, लाघवादुत प्लवनत्वाच्च वायोरूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नेः; सलिलपृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः, पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य। व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतो भाजः।

च० सू० अ० २६।

अर्थात् अग्नि और वायु महाभूतकी अधिकतावाले रस प्रायः ऊपरकी ओर गति करनेवाले अर्थात् वमनादि द्वारा दोषको निकालनेवाले होते हैं। क्योंकि वायु लघु और ऊपरकी ओर गति करनेवाला है। तथा अग्नि भी ऊपर ज्वाला उठकर जलनेवाले स्वभावका है। जल और पृथ्वी महाभूतकी अधिकतावाले रस प्रायः नीचेकी ओर गति करनेवाले अर्थात् मल-मूत्रादिका विरेचन करानेवाले होते हैं। क्योंकि जल स्वभावसे और पृथ्वी गुरु होनेसे नीचेकी ओर गति करनेवाली होती है। जो रस ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारोंवाले अर्थात् पृथ्वी-जल-वायु और अग्नि इन चारों महाभूतोंकी अधिकतावाले होते हैं वे उभयतोभागगामी होते हैं अर्थात् वमन और विरेचन दोनों करानेवाले होते हैं।

—०—

रसोंका ऋतुओंपर प्रभाव

सूर्य और पृथ्वीकी गतिके कारण और पृथ्वीका सूर्यके दूर या निकट होनेके कारण क्रमशः समयमें फरक पड़ता रहता है और दो महीनेमें वह फरक साफ प्रतीत होता है; इस लिये वर्षमें छः ऋतुयें होती हैं। शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमन्त छः ऋतुयें हैं। माघ और फाल्गुनमें शिशिर, चैत्र और वैशाखमें वसन्त, ज्येष्ठ और आषाढ़में ग्रीष्म, श्रावण और भादोंमें वर्षा, आश्विन और कार्तिकमें शरद और अगहन और पौष महीनेमें हिम ऋतु रहती है। यों तो सूर्य रात-दिन प्रकाशित रहता है और हमारी पृथ्वीके किसी न किसी भाग पर उसका सामना बनाही रहता है; किन्तु पृथ्वीके गोल होनेके कारण जो हिस्सा पृथ्वीका सूर्यके सामने रहता है वहां दिन रहता है और जो हिस्सा उसकी ओटमें रहता है वहां रात रहती है। पृथ्वीकी दो गतियां हैं। एक तो वह जो पृथ्वी सूर्यके आसपास एक अण्डाकृतिमार्ग द्वारा आगे बढ़ती है; जिससे अयन और ऋतुओंका परिवर्तन होता है और दूसरी वह चाल जो अपनी ही कक्षामें घूमती है; जिसके कारण रात और

दिन होते हैं। यही कारण है कि जब हमारे यहां दिन होता है तब अमेरिकामें रात और जब क्रमशः अमेरिकामें सबेरा होता है तब यहां रातका आगमन होता है। पृथ्वीके जिस हिस्सेमें जिस समय दिन रहता है उस हिस्सेमें उस समय पृथ्वीपर सूर्यकी किरणें बराबर पड़ती रहती हैं; इसलिये दिनके समय कुछ गर्मी अधिक रहती है; किन्तु सूर्यकी किरणें न पहुँचनेके कारण रातवाले हिस्सेमें सर्दी पड़ती है। इससे यह मालूम पड़ा कि पृथ्वीका जो भाग सूर्यके सामने और समीप रहता है उस भागमें जितनी ही सरलतासे उसकी किरणें पड़ती रहती हैं, उतनी ही पृथ्वी पर गर्मी अधिक पहुँचती है। शिशिर ऋतुसे पृथ्वी सूर्यके समीप आने लगती है और ग्रीष्म ऋतुमें बिलकुल पास हो जाती है, इसलिये इन दिनों पृथ्वीमें बहुत गर्मी पड़ती है और सूर्य पृथ्वीसे उसके सोम भागको अधिक खींचता है। इसलिये इन दिनोंमें पृथ्वीमें रूक्षता अधिक बढ़ जाती है। शिशिर, वसन्त और ग्रीष्ममें पृथ्वी उत्तरकी ओर बढ़ती हुई सूर्यके समीप पहुँचती है, इसलिये उसे उत्तरायणकाल कहते हैं। इस समय पृथ्वीसे सूर्य सोमभाग अधिक खींचता है इसलिये इसे आदानकाल भी कहते हैं और पृथ्वीमें गर्मी अधिक होती तथा रूक्षता बढ़ जाती है इसलिये इसे आग्नेयकाल भी कहते हैं। वर्षाऋतुसे पृथ्वी दक्षिणकी ओर झुकने लगती है, पानी बरसने लगता है, ज्यों ज्यों सूर्य पृथ्वीसे दूर पड़ता जाता है, त्यों त्यों वह पृथ्वीके सोमभाग अपनी किरणोंसे आकर्षित करनेमें कम समर्थ होता है और पृथ्वी पर सोमभागका सञ्चय अधिक होता है तथा पृथ्वीमें स्निग्धता रहती है। अतएव पृथ्वी दक्षिण मार्गकी ओर भ्रमण करती है, इससे वर्षा, शरद और हिम ऋतुको दक्षिणायनकाल कहते हैं। पृथ्वीमें सोमभाग अधिक सञ्चित होता है, इसलिये इसे सौम्यकाल कहते हैं और सर्दी पड़ती है तथा सूर्यकी शक्ति क्षीण होनेसे वह सोम-भागको खींचनेमें असमर्थ रहता है, अतएव चन्द्रमा अपनी किरणोंसे पृथ्वीको अपना सोमभाग अधिक देता है, इसलिये इसे विसर्ग काल कहते हैं।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि जब पृथ्वीपर आग्नेयकाल रहेगा तब अग्नितत्त्वप्रधान पदार्थ अधिक बलवान रहेंगे; क्योंकि सूर्यकी गर्मी-सर्दीका प्रभाव जब पृथ्वीपर पड़ता है तब पृथ्वीके पदार्थों पर भी वह असर पड़े बिना कैसे रह सकता है और जब पदार्थों पर असर पड़ा तो पदार्थके गुणोंपर भी असर पड़ेगा ही, रस पदार्थोंका गुण है अत एव रसोंपर भी इस गर्मी-सर्दीका असर पड़ता है। यही कारण है कि आग्नेयकालमें अग्नितत्त्वप्रधान रूक्षगुणसम्पन्न रस बलवान रहते हैं और वर्षा तथा शीतकालमें पदार्थोंकी सौम्यता बढ़ जाती है अतएव सोमरसवाले पदार्थ अरूक्ष-स्निग्धरस बलवान हो जाते हैं। शिशिर ऋतुमें तिक्तरस बलवान हो जाता है। वसन्त ऋतुमें कषायरसकी शक्ति अधिक बढ़ जाती है और ग्रीष्म ऋतुकी प्रखर उष्णतासे कटुरस प्रबल हो जाता है।

तिक्तः कषायः कटुको बलिनोऽत्र रसाः क्रमात् ।

वर्षा ऋतुमें गर्मी तो पड़ती है; किन्तु वर्षा और मेघोंके घिरावके कारण उसका उतना प्रभाव नहीं पड़ने पाता; किन्तु जलके गँदलेपनके कारण और पृथ्वीसे अम्लवाष्प—गैस निकलती रहनेके कारण अम्लविपाक हो जाता है; इसलिये वर्षाऋतुमें अम्लरस तेजी पर रहता है। शरद ऋतुमें लवणकी शक्ति बढ़ जाती है और शीत ऋतुमें मधुर रस अपनी पूरी ताकत पर रहता है।

स्निग्धाश्चेहाम्ललवण-मधुरा बलिनो रसाः ।

सूक्ष्मभेदसे प्रत्येक दिनमें भी दिन-रातके अन्दर सूर्यकी गर्मी-सर्दीका क्रम चढ़ता उतरता रहता है। सवेरेसे लेकर दोपहर तक क्रमशः उष्णता बढ़ती है, दोपहरसे क्रमशः घटते-घटते शाम तकमें बहुत घट जाती है। इसी तरह रातमें भी क्रमशः सर्दी बढ़ती जाती है। इसलिये ऋषियोंने सूक्ष्मदृष्टिसे प्रत्येक दिनमें भी छहों ऋतुओंका भोग माना है। प्रातःकालमें वसन्त, मध्याह्नमें ग्रीष्म, अपराह्णमें प्रावृट् (जिन देशोंमें वर्षाकी अधिकता होती है उन देशोंमें आषाढ़-श्रावणमें प्रावृट् भाद्र —कुवार वर्षा, कार्तिक—अगहन शरद, पौष—माघ हेमन्त और फाल्गुन-चैत्रमें वसन्त ऋतु मानते हैं। ऐसे देशोंमें शिशिर ऋतुका अभाव होता है) सन्ध्या समय वर्षा, अर्धरात्रिके समय शरद और आधीरातके बाद पिछली रातमें हेमन्त ऋतुका भोग हो जाता है। अतएव दिनके जिस भागमें जिस ऋतुका भोग होता रहता है उस समय उस ऋतुमें बल पानेवाला रस बलवान रहता है। किन्तु बहुत सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करने पर ही इस अन्तरकी कल्पना की जा सकती है। भोजनके आहार द्रव्य और किस समय किस रसका सेवन लाभकारी होगा, इसके विचारके लिये यह वर्णन सहायक होता है।

आदानकालके अन्तिम भाग अर्थात् ग्रीष्म ऋतुमें उष्णता और रूक्षता अपनी सीमाको पहुँच जाती है और विसर्ग कालके प्रारम्भिक हिस्से अर्थात् वर्षामें यद्यपि वह गर्मी, तीक्ष्णता और रूक्षता क्रमशः सूक्ष्म रूपसे घटने लगती है, तथापि उस समय उसका प्रभाव रहता ही है! इसलिये ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमें मनुष्योंकी शक्ति क्षीण रहती है। इसी तरह विसर्गकालके अन्तिम भाग अर्थात् हेमन्त ऋतुमें सौम्यभाग पूर्णताको पहुँच जाता है और यद्यपि शिशिर ऋतुमें क्रमशः सूर्यका उत्ताप बढ़ने लगता है तथापि शिशिरमें शीत रहता ही है और सौम्यअंशका प्रभाव बना ही रहता है। इसलिये इन दोनों ऋतुओंमें शारीरिक शक्ति पूर्णताको पहुँची रहती है। इसीलिये शारीरिक शक्ति और स्निग्धता कायम रखनेके लिये ग्रीष्म और वर्षामें तो आहार द्रव्योंमें स्निग्ध और शीत भाग बढ़ाकर कृत्रिम मदद पहुँचायी जाती है और हेमन्त और शिशिरमें सञ्चित शक्तिको प्रबल जठराग्नि

सहारा पाकर पाक तथा पौष्टिक पदार्थोंसे और भी अधिक बढ़ानेका प्रयत्न किया जाता है।

हेमन्त और शिशिर ऋतुमें बाहरी ठंडके कारण रक्त कुछ गाढ़ा हो जाता है, शरीरके स्रोतस संकुचित हो जाते हैं, इससे रोमरन्ध्रोंका मार्ग भी सिकुड़ जाता है, इसीसे पसीना भी वैसा नहीं निकलता। इसलिये इन दिनोंमें बलवान पुरुषका अग्नि भीतर ही अवरुद्ध होकर (भट्ठे या कुम्हारके आवेंके समान) खूब प्रज्वलित हुआ रहता है। अतएव इन दिनोंमें मधुर-अम्ल और लवण रसोंका अधिक सेवन करना चाहिये। वातकारक और लघु अन्नपानसे इन दिनों बचना चाहिये।

अतो हिमेऽस्मिन् सेवेत स्वाद्वम्ललवणान् रसान्।
वातघ्न—तैलैरभ्यङ्गं मूर्ध्नि तैल—विमर्दनम् ॥

शिशिर ऋतुमें सर्दी तो रहती ही है किन्तु आदान कालका आरम्भ हो जानेसे इस समयमें कुछ रूक्षता आ जाती है। इसलिये इस ऋतुमें कटु-तिक्त-कषाय रसवाले तथा वातकारक और ठंडे अन्न-पानसे बचते रहना चाहिये।

वसन्त ऋतुमें शरदका जमा हुआ कफ सूर्यकी तेज किरणोंसे पिघल कर स्रोतसोंसे निकल जठराग्नि को मन्द कर देता है। अतएव बढ़े हुए श्लेष्माको सुखानेवाले हलके और रूक्ष अन्न-पान करना चाहिये। इस ऋतुमें मधुर रसका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि उससे कफकी वृद्धि होगी।

गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत्।

यहाँ तक कि भोजनके लिये गेहूँ और जब मधुर रसवाले होनेके कारण पुराने देने चाहिये, जिससे वे कफ को न बढ़ा सकें। भारी, ठंडे; स्निग्ध, अम्ल और मधुर रसोंका सेवन न कर रूक्ष और कषायरस लेना अच्छा है।

ग्रीष्म ऋतुमें लघु, स्निग्ध, शीतल और द्रव अन्न-पान करना चाहिये। मधुररस सेवन करना इस ऋतुमें हितकारी है।

भजेन्मधुरमेवान्नं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम्।
सुशीततोयसिक्ताङ्गो लिह्यात्सक्तुं सशर्करम् ॥

इस ऋतुमें वायुका सञ्चय होता है, इसलिये वायुकारक भोजन नहीं करना चाहिये। लवण, कटु और अम्ल रसवाले भोजनोंसे बचना चाहिये। यदि खटाई, क्षार, चटनी आदिमें ये रस लेना ही हो तो लवणमें सैन्धव लें और ऐसे पदार्थोंमें मधुरताकी विशेषता करदें।

वर्षा ऋतु में वायु की प्रबलता रहती है, वृष्टिके कारण ऊपरी शीत रहता है, अम्लपाकके कारण अग्नि मन्द रहती है। इसलिये इस ऋतुमें अग्निको प्रदीप्त करने-

वाले स्निग्ध किन्तु उष्ण गुणविशिष्ट आहार करना चाहिये। किन्तु ऐसे आहारमें अम्ल और लवण रसकी विशेषता रहनी चाहिये।

व्यक्ताम्ललवणस्नेहं संशुष्कं क्षौद्रवल्लघु।

शरद ऋतुमें मेघोंका घिराव हट जानेसे और गर्मी बढ़ जानेसे शरीरका संचित पित्त भड़क उठता है। इस ऋतु को ग्रीष्मका छोटा भाई समझना चाहिये। इधर आदान कालकी उष्णताका अन्त और विसर्गकालके प्रभावकी वृद्धि होते हुए शीतका आगमन होता है। इसलिये इसमें ग्रीष्म और शीत दोनों ऋतुओंके सम्मिलनका अनुभव होता है। दिनमें गर्मी और रातमें सर्दी पड़ती है। इसलिये इस ऋतुका अन्न-पान भी मिश्रित ढङ्गका होता है। इस ऋतुमें लघु और शीत-गुणविशिष्ट तिक्त, स्वादु और कषाय रसवाले पदार्थोंका प्रायः सेवन करना चाहिये।

तिक्तं स्वादु कषायं च क्षुधितोऽन्नं भजेल्लघु।
शालिमुद्गसिताधात्रीपटोलमधुजाङ्गलम्।

क्षार पदार्थोंका सेवन इस ऋतुमें मना है। तैल, चर्बी और तीक्ष्ण मद्यादिका सेवन भी निषिद्ध है।

ऊपरके विवेचनसे कोई यह न समझे कि जिन ऋतुओंमें जिन रसोंका सेवन बतलाया गया है, उन ऋतुओंमें केवल उन्हीं रसोंका सेवन करना चाहिये। यों तो मनुष्यको अपने आहारमें नित्य छहों रसोंका समावेश करना चाहिये; क्योंकि शरीरके पोषणके लिये कम अधिक सभी रसोंकी आवश्यकता रहती है। किन्तु जिस ऋतुमें जिस रसका सेवन अधिक प्रयोजनीय है, उस रसवाले पदार्थोंकी अन्न-पानमें अधिकता रखनी चाहिये। वाग्भट कहते हैं:—

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ।

चरक भी यही कहते हैं कि जिसमें जिस दोषकी अधिकता है वह उस दोषके नाश करनेवाले उससे विपरीत गुणके रसोंका अन्न-पानमें उपयोग करे—

विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्ते विधिर्हितः।
समसर्वरसं सात्म्यं समधातौ प्रशस्यते॥

अर्थात् क्षीणदोषोंको बढ़ानेवाले और उल्वण दोषोंको घटानेवाले रसोंका बीमार लोग व्यवहार करें इससे आरोग्य कायम रहता है। अर्थात् जिनके दोष सम अवस्थामें हैं उन्हें अपनी प्रकृतिके अनुकूल और रुचिके अनुसार सभी रसोंका सेवन करना चाहिये।

संक्षेपमें शीत ऋतुके हेमन्त और शिशिर तथा वर्षा इन तीन ऋतुओंमें मधुर, अम्ल और लवण रसका सेवन करना चाहिये और वसन्त ऋतु में कटु-तिक्त-कषाय

रसोंका सेवन करना उचित है। ग्रीष्म ऋतुमें मधुर रस और शरद ऋतुमें स्वादु-तिक्त और कषाय रसोंका सेवन करना उत्तम रहता है।

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् वसन्तेऽन्त्यान् रसान् भजेत्।
स्वादुं निदाघे शरदि स्वादुतिक्तकषायकान्॥

एक ऋतुके बाद दूसरी ऋतुके लगते ही एकदम पहली ऋतुके रसोंका त्याग और आनेवाली ऋतुके रसोंका ग्रहण कदापि नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे रोग उत्पन्न होनेका डर रहता है। बीतनेवाली ऋतुका अन्तिम और आनेवाली ऋतुका प्रथम सप्ताह ऋतुसन्धिका पत्त कहलाता है। इसमें क्रमशः व्यतीत ऋतुके अन्न-पानके रस घटाते हुए आनेवाली ऋतुके अन्न-पानके रस ग्रहण करने चाहिये। इससे आरोग्य सम्पादित होता है।

रसोंकी भेद-कल्पना

यह हम पहले लिख चुके हैं कि संयोग-भेदसे और द्रव्योंमें रसोंके तरतम-भेदसे रसोंके असंख्य उपभेद किये जा सकते हैं; परन्तु उस ढङ्गका विस्तार करना निष्प्रयोजन है। तथापि रसोंके द्रव्य, देश, अवस्था और कालके प्रभावसे जीवधारियोंमें उनके उत्कर्ष और अपकर्ष भेदसे जो ६३ संख्या की कल्पना होती है, उसका वर्णन कर देना आवश्यक है। द्रव्यके प्रभावसे भेदका होना जैसे 'सोमगुणातिरेकान्मधुरः' अर्थात् पृथ्वी और जलतत्व-प्रधान पदार्थ मधुर होते हैं। देशका प्रभाव जैसे 'हिमवति द्राक्षादाडिमादीनि मधुराणि भवन्त्यन्यत्राम्लादीनि' अर्थात् हिमालयके मुनक्के और अनार मीठे होते हैं और अन्य स्थानके खट्टे होते हैं। अवस्थाके प्रभावमें पाकका उदाहरण जैसे 'बालाम्रं सकषायं तरुणमम्लं पक्वं मधुरम्' आमकी कच्ची अँबिया कषायरसकी होती है, जाली पड़ने पर वही आम खट्टा हो जाता और पकने पर वही आम मीठा होता है। कालके भेदसे होनेवाले अन्नका उदाहरण जैसे 'हेमन्ते ओषध्यो मधुरा वर्षास्वम्लाः' हेमन्त ऋतुमें ओषधियोंमें मधुरता पूर्णरूपसे आजाती है, परन्तु वर्षा ऋतुमें उनमें अम्लरसकी विशेषता रहती है। इन उपलक्षणोंके सिवाय इनमें अग्निसंयोग या अन्यपदार्थमिश्रण आदि अन्य रसभेद करनेवाले कारणोंका भी ग्रहण होता है। ओषधि-योजनाके सम्बन्धसे और स्थूलदृष्टिसे देखने पर रसोंके ५७ संयोग होते हैं और छः मूल रस हुए। सब मिलाकर ६३ रसभेदकल्पना होती है।

संयोगः सप्तपञ्चाशत्कल्पना तु त्रिषष्टिधा।
रसानां यौगिकत्वेन यथास्थूलं विभज्यते॥

यथा—१ मधुर, जैसे दूध, मलाई, २ अम्ल, कच्चा करौंदा, ३ लवण, सांभर

नमक, ४ कटु, चव्य, ५ तिक्त नीम, पित्तपापड़ा, और ६ कषाय जैसे कमल या बढ़के अन्दर ये रसोंके अकेले छः भेद हुए।

इसके बाद दो रसोंके मेलसे रसोंकी भेद कल्पना १५ होती है।

एकैकहीनांस्तान्पञ्च, पञ्च यान्ति रसा द्विके।

अर्थात् दो दो रसोंके संयोगसे मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त और कटुके ५+४+३+२+१=१५ भेद हुए। इसका मतलब यह कि मधुररस अन्य रसोंसे मिलकर ५ भेद पैदा करता है। अम्लरस ४ भेद, लवणरस ३ भेद, तिक्तरस २ भेद और कटुरस १ भेद उत्पन्न करता है। यह क्रमशः जो संख्या घटती गयी उसका कारण यह है कि प्रत्येक रस अपने अगले रससे संयोगको प्राप्त हो जाता है। जैसे मधुररस अपने आगेके अम्ल—लवण—तिक्त—कटु—कषायसे मिल सकता है। अम्लरस अपने आगेके लवण—तिक्त—कटु—कषायसे संयुक्त होता है। तिक्तरस कटु और कषायसे संयुक्त होता है और कटुरस केवल कषायसे ही संयुक्त होता है। कोई रस अपने पूर्व रससे संयोग नहीं पाता; क्योंकि अगले रससे पूर्वका रस अधिक बलवान् होता है। वह स्वयं दूसरोंसे मिलता है; परन्तु उसके नीचेवाले अन्य रस उससे संयोग नहीं पा सकते। इसी बातको नीचे अलग-अलग साफ-साफ देखिये।

दो रसोंके मेलसे उत्पन्न १५ भेद:—

(१) मधुर रससे होनेवाले ५ भेद—

मधुर+अम्ल=मधुराम्ल—बेर, कैथ फल।
मधुर+लवण=मधुरलवण—ऊंटनी का दूध, भेड मांस।
मधुर+तिक्त=मधुरतिक्त—गन्धाविरोजा, राल।
मधुर+कटु=मधुरकटु—कुत्ते या श्रृगाल का मांस।
मधुर+कषाय=मधुरकषाय—तिल तेल, धामन फल।

(२) अम्लरसके संयोगसे होनेवाले ४ भेद—

अम्ल+लवण=अम्ललवण—खारी मिट्टी।
अम्ल+तिक्त=अम्लतिक्त—सुरा।
अम्ल+कटु=अम्लकटु—चुक्र।
अम्ल+कषाय=अम्लकषाय—हथिनी का दही, तोते का मांस।

(३) लवणरसके संयोगसे होनेवाले ३ भेद—

लवण+तिक्त=लवणतिक्त—रांगा, सीसा।
लवण+कटु=लवणकटु—गोमूत्र, सज्जीखार।
लवण+कषाय=लवणकषाय—समुद्रफेन।

(४) कटु रसके संयोगसे होनेवाले २ भेद—

तिक्त + कटु = तिक्तकटु—कपूर, जायफल।

तिक्त + कषाय = तिक्तकषाय—हथिनी की दही।

(५) तिक्त रसके संयोगसे होनेवाले १ भेद—

कटु + कषाय = कटुकषाय—हरताल, भिलावे की मींगी।

सब मिलकर १५ भेद हुए।

तीन-तीन रसोंके संयोगसे कुल २० भेद कल्पना होती है।

त्रिके स्वादुर्दशाम्लः षट् त्रीन्पटुस्तिक्त एककम्।

अर्थात् तीन-तीन रसोंके संयोगसे जो २० भेद होते हैं उनमें मधुर रसके संयोगसे १०, अम्लरसके संयोगसे ६, लवणरसके संयोगसे ३ और तिक्तरसके संयोगसे १ भेद होता है। कुल मिलकर २० भेद हुए। अम्लयोग समाप्त होने पर लवण आदि आगे आता है और पिछला छूटता जाता है। नीचे इसे और भी साफ किये देते हैं।

(१) मधुररसके संयोगसे होनेवाले १० भेद—

मधुर + अम्ल + लवण = मधुराम्ललवण—हाथीका मांस।

मधुर + अम्ल + तिक्त = मधुराम्लतिक्त—गोधूमसुरा।

मधुर + अम्ल + कटु = मधुराम्लकटु—सेहीका मांस।

मधुर + अम्ल + कषाय = मधुराम्लकषाय—मठा, दहीका तोड़।

मधुर + लवण + तिक्त = मधुरलवणतिक्त—घोंघेका मांस।

मधुर + लवण + कटु = मधुरलवणकटु—बनकपोतमांस।

मधुर + लवण + कषाय = मधुरलवणकषाय—गुडमिश्र कमलकन्द।

मधुर + तिक्त + कटु = मधुरतिक्तकटु—केतकीका फल, धनियां।

मधुर + तिक्त + कषाय = मधुरतिक्तकषाय—गिलोय, तुवरकतैल, बाबरङ्ग।

मधुर + कटु + कषाय = मधुरकटुकषाय—एरंड तैल, गोहमांस।

(२) अम्लादिके योगसे होनेवाले ६ भेद—

अम्ल + लवण + तिक्त = अम्ललवणतिक्त—हाथीका मूत्र।

अम्ल + लवण + कटु = अम्ललवणकटु—रौप्यशिलाजतु।

अम्ल + लवण + कषाय = अम्ललवणकषाय—सांभरनमकयुक्त हथिनीकी दही।

अम्ल + कटु + तिक्त = अम्लकटुतिक्त—कालीमिर्च डाली सुरा।

अम्ल + तिक्त + कषाय = अम्लतिक्तकषाय—तोतेके मांसयुक्त सुरा।

अम्ल + कटु + कषाय = अम्लकटुकषाय—अम्लवेत।

(३) लवणके संयोगसे होनेवाले ३ भेद—

लवण + तिक्त + कटु = लवणतिक्तकटु—भेडका मूत्र
लवण + तिक्त + कषाय = लवणतिक्तकषाय–समुद्र स्थित समुद्रफेन।
लवण + कटु + कषाय = लवणकटुकषाय—सांभरनमकयुक्त भिलावा।

(४) तिक्तके संयोगसे होनेवाला १ भेद—

तिक्त + कटु + कषाय = तिक्तकटुकषाय—काला अगर, देवदारुतल।
सब मिलकर २० भेद हुए।

चार-चार रसोंके कुल १५ भेद कल्पना होती है। इनमेंसे मधुरादिके संयोगसे १० अम्लके संयोगसे ४ और लवणके संयोगसे १ भेद मिलकर कुल १५ भेद होते हैं।

चतुष्केषु दश स्वादुश्चतुरोऽम्लः पटुः सकृत्।

उसी प्रकार एक-एक छोड़ कर आनेवाला ग्रहण किया जाता है। अर्थात् मधुरके साथ अम्ल रह कर छः भेद बनाते हैं। मधुरके साथ लवण रह कर तीन भेद बनाते हैं और मधुरके साथ तिक्त रह कर एक भेद होता है। अम्लके साथ लवण रहकर तीन भेद और अम्लके साथ तिक्त रहकर १ भेद बनाता है और लवणके साथ अन्य तीन रहकर एक भेद बनाते हैं। कुल १५ हुए।

मधुर + अम्ल + लवण + तिक्त = मधुराम्ललवणतिक्त—गोमूत्र, घोड़ी–गधी का दूध।
मधुर + अम्ल + लवण + कटु = मधुराम्ललवणकटु—गोमूत्रयुक्त शिलाजीत।
मधुर + अम्ल + लवण + कषाय = मधुराम्ललवणकषाय—सैंधव छाछ।
मधुर + अम्ल + तिक्त + कटु = मधुराम्लतिक्तकटु—लहसुनयुक्त सुरा।
मधुर + अम्ल + तिक्त + कषाय = मधुराम्लतिक्तकषाय—यवास शर्करा गूलर।
मधुर + अम्ल + कटु + कषाय = मधुराम्लकटुकषाय—कांजीयुक्त एरण्ड तैल।
मधुर + लवण + तिक्त + कटु = मधुरलवणतिक्तकटु—बैंगन।
मधुर + लवण + तिक्त + कषाय = मधुरलवणतिक्तकषाय—समुद्रफेन।
मधुर + लवण + कटु + कषाय = मधुरलवणकटुकषाय—गोमूत्रयुक्त तिल तैल।
मधुर + तिक्त + कटु + कषाय = मधुरतिक्तकटुकषाय—तिलगूगल।
अम्ल + लवण + तिक्त + कटु=अम्ललवणतिक्तकटु–सोंचरयुक्त हथिनीकी दहीकी सुरा।
अम्ल + लवण + तिक्त + कषाय = अम्ललवणतिक्तकषाय—रेहमिला तोतेका मांस।
अम्ल + लवण + कटु + कषाय=अम्ललवणकटुकषाय—सोंचर मिला हथिनीकी दही।
अम्ल + तिक्त + कटु + कषाय=अम्लतिक्तकटुकषाय–कोमल मूलीयुक्त हथिनीकी दही।
लवण + तिक्त + कटु + कषाय—लवणतिक्तकटुकषाय—सोंचर मिला कच्चा केला।

इस प्रकार चार-चार रसोंके संयोगसे सब १५ भेद हुए। पाँच-पाँच रसोंके

संयोगसे कुल छः भेद होते हैं। इनमेंसे मधुररसके संयोगसे पांच भेद और अम्ल रसके संयोगसे १ भेद मिलकर छः भेद होते हैं।

पञ्चकेष्वेकमेवाम्लो मधुरः पञ्च सेवते।

(१) अम्ल+लवण+तिक्त+कटु+कषाय=अम्ललवणतिक्तकटुकषाय जैसे भिलावां और रौप्य शिलाजतु मिला नीम। मधुररसके जो पाँच भेद होते हैं उनमें यदि अम्लको छोड़कर भेद बनावें तो यों बनेगा (२) मधुरलवणतिक्त कटुकषाय। जैसे लहसुन। (३) फिर लवण को छोड़कर जो कुछ रूप बनेगा वह यों होगा—मधुरअम्लतिक्तकटुकषाय जैसे हर्रा, आँवला। (४) फिर तिक्तको छोड़कर जो रूप बनेगा वह यों होगा,—मधुराम्ललवणकटुकषाय जैसे—त्रिकटु तथा जवाखारयुक्त मट्ठा। (५) कटुको छोड़ कर शेष पांचों का यों रूप बनेगा—मधुराम्ललवणतिक्तकषाय। जैसे औद्भिद लवण मिला तक्र (६) और कषायको छोड़कर अन्य पाँचोंका रूप यों होगा। मधुराम्ललवणतिक्तकटु जैसे कच्चा करौंदायुक्त भुना बैंगन। सब रसोंके मेलसे भी एक रसभेद बनता है:—

द्रव्यमेकं षडास्वादमसंयुक्ताश्च षड्साः

यथा मधुर+अम्ल+लवण+तिक्त+कटु+कषाय जैसे काले हिरणका मांस इस प्रकार अलग-अलग ६+दो-दोके मेलसे १५+तीन-तीन रसोंके संयोगसे २०+चार-चार रसोंके संयोगसे १५+पाँच-पाँच रसोंके संयोगसे ६+और सब रसोंके मेलसे एक, रस-भेद-कल्पना मिलकर कुल ६३ भेद-कल्पना हुई।

ये जो ६३ प्रकार कहे गये, वे केवल छहों रसोंमेंसे कोई एक अथवा एकसे अधिक रस छोड़कर जिनका तो मिश्रण हो सकता है उसीका वर्णन किया गया है। इसमें रस और उनके अनुरसोंका मिश्रण नहीं किया गया। यदि रस और अनुरसके मिश्रणसे भेद करने लगें तो असंख्य भेद होंगे।

ते रसानुरसतो रसभेदास्तारतम्यपरिकल्पनया च।
सम्भवन्ति गणानां समतीता दोषभेषजवशादुपयोज्यः॥

काश्यपसंहिता-लिखित रसभेद—

चरक, सुश्रुत और वाग्भटने इन्हीं ६३ भेदोंपर जोर दिया है। किन्तु काश्यप-संहिताकार इस ६३ भेदोंको स्वीकार करते हुए भी रसोंके ३०७३ भेद गिनाये हैं। वे कहते हैं कि यथाक्रम वृद्धिके अनुसार दोषोंके कर्म एवं स्थान के समान निश्चय-पूर्वक रसोंके भी ६ स्थान होते हैं। क्षयके बिना दो-दोके संयोगसे द्विकोंके भी वे ही कर्म होते हैं। इस प्रकार द्विकोंके जो पहले १५ भेद कहे गये हैं, उसके वृद्धजीवक १६५ भेद मानते हैं। त्रिक अर्थात् तीन-तीन रसोंके योगसे २० भेदोंका जहाँ पहले

वर्णन हुआ है वह उसके ६२० भेद मानते हैं। चार-चार हिस्सोंके संयोगसे अर्थात् चतुष्कके जहां पहले १५ गिनाये गये हैं वहां वृद्धजीवक १०६९ भेद मानते हैं। पंचक-संयोग अर्थात् पांच रसोंके संयोगसे हमने ६ भेद गिनाये हैं; परन्तु वृद्धजीवक उनके ९०६ मानते हैं। षष्ठकों अर्थात् ६ रसोंके संयोगसे १ भेद हमने बतलाया किन्तु वृद्धजीवक उसके ३११ भेद मानते हैं। इस प्रकार संयुक्तरसोंके विकल्पभेद और पृथक्-पृथक् ६ भेद मिलाकर वे कुल ३०७३ भेद गिनाये हैं। १६५+६२०+१०६५+९०६+३११+६=३०७३ हुए। वे आगे कहते हैं कि हमारी बुद्धि तो और आगे भी भेद गिनानेमें समर्थ है; किन्तु रसों तथा दोषोंके भेदोंके अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे उनका वर्णन नहीं करते। अर्थात् इसके आगे रसों तथा दोषोंके भेद अत्यन्त सूक्ष्म हो जाते हैं।

इसी तरह तरतम भावसे भी (जैसे मधुर, मधुरतर, मधुरतम, इत्यादि) रसोंका मिश्रण करने लगें तो भी उसके असंख्य प्रकार होंगे। तथापि चिकित्सा व्यवहारकी सुविधाके लिये न तो अत्यन्त संक्षेप और न अत्यन्त विस्तारके साथ यह आवश्यक मिश्रण-भेद बतला दिया गया। इसमें ५७ संयोग-भेद और छः अलग-अलग रस मिलकर तिरसठ भेद आचार्योंके सम्मतिके अनुसार कहे गये हैं। जो वैद्य चिकित्साविद्यामें कीर्तिलाभ करना चाहता है उसे रोगीके दोष, औषध, देश, काल, बल, अग्नि, प्रकृति, वय, सत्त्व, सात्म्य, आहार और रोगावस्था आदि बातोंका विचारकर जैसा योग्य दिखे तदनुरूप एक अथवा अनेक संयुक्तरसोंका उपयोग करना चाहिये। भगवान् चरक कहते हैं—

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्।
दोषौषधादीन्सञ्चिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान्बुधाः।
रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान्प्रति॥

कुशल वैद्य रोगमें जहाँ तक हो सकता है, ऐसे द्रव्यका उपयोग करता है जो उत्पत्तिसे ही दो-दो तीन-तीन रसवाले होते हैं। अथवा एक-एक रसयुक्त अनेक द्रव्योंके संयोगसे अभीष्ट रस निष्पादन कर देता है। उत्पत्ति-सिद्ध दो रसों के द्रव्य जैसे मूंग 'कषायमधुरो मुद्गः' मूंग कषाय और मधुररस वाली है। त्रिरस द्रव्यका उदाहरण जैसे कमरख 'मधुराम्लकषायञ्च विष्टम्भि गुरु शीतलम्। पित्त श्लेष्महरं भव्यम्......' कमरख मधुर—अम्ल और कषायरसवाला, विष्टम्भी, गुरु (भारी) और शीतल है एवं पित्त तथा श्लेष्माका नाश करनेवाला है। चार रसों वाला द्रव्य तिल 'स्निग्धोष्णमधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः' अर्थात् तिल मधुर, कटु, तिक्त और कषाय रसवाला है। पाँच रसवाले द्रव्य आँवला—

हर्रा आदि इनमें लवण छोड़कर पाँचों रस हैं। छहों रसवाले पदार्थमें काले हरिणका मांस है। विषमें छहों रस अव्यक्त रूपसे हैं। रोगी मनुष्यके लिये एक-दो-तीन जितने रसोंकी आवश्यकता हो उतने ही रसोंके मिश्रणवाले पदार्थ होने चाहिये; किन्तु समान धातुवाले निरोगी मनुष्यको तो सभी रसोंका उपयोग करते रहना चाहिये।

रसोंके गण

यहाँ तक रसोंके विषयमें बहुतसी बातें कही जा चुकीं, किन्तु जब तक यह न बतलाया जाय कि कौन पदार्थ मधुर और कौन अम्लादि हैं तब तक वह वर्णन अधूरा रहेगा। क्योंकि कुछ तो ऐसे पदार्थ हैं जिनके रसका निर्णय सहज ही हो जाता है; किन्तु कुछ ऐसे हैं जिनके रस-निर्णयमें कुछ बारीकीकी जरूरत होती है। इसलिये प्रत्येक रसवाले कुछ पदार्थोंका निर्देश किये देते हैं। प्रत्येक रसके ऐसे समूहको गण या वर्ग या स्कन्ध कहते हैं।

मधुर-गण—

घृतहेमगुडाक्षोडमोचचोच-परूषकम्।
अभीरु-वीरा-पनस-राजादन-बलात्रयम्॥
मेदे चतस्रः पर्णिन्यो जीवन्ती जीवकर्षभौ।
मधूकं मधुकं बिम्वी बिदारी श्रावणीयुगम्॥
क्षीरशुक्ला तुगाक्षीरी क्षीरिण्यौ काश्मरी सहे।
क्षीरेक्षुगोक्षुरक्षौद्र-द्राक्षादिर्मधुरो गणः॥

अर्थात् घी, सोना, गुड़, अखरोट, केला, नारियल, फालसा, शतावरी, काकोली, कटहर, खिरनी, बला, अतिबला, नागबला, मेदा, महामेदा, सरिवन, पिठवन, बनमूंग, बनउड़द, जोवन्ती, जीवक, ऋषभक, महुवा, मुलेठी, कुन्दरू, विदारीकन्द, मुण्डी, गोरखमुण्डी, सफेद भूमिकूष्माण्ड (भुइं कोहड़ा), वंशलोचन, घमोय (स्वर्णक्षीरी), दुद्धी-गोदना, कास्मरी (खंभार), छोटी सहा और बड़ी सहा (सफेद कटसरैया और पीली कटसरैया), दूध, ऊख, गोखरू, शहद, अंगूर, मुनक्का किसमिस, तृणपंचमूल, कुस, काँस, ऊख, सरपत, धान, मेद, मज्जा, तेल, मीठा अनार, कमलगट्टा, सिंघाड़ा, असगन्ध, कमलका भसींडा, कसेरू, खजूर, छुहारा, ताड़ आदि मधुरवर्ग हैं। सुश्रुतने कुछ और वस्तुएं भी गिनायी हैं यथा चावल, साठी चावल, जव, गेहूं, मटर, खीरा, ककड़ी, फूट, लौकी, खरबूज, तरबूज, निर्मली का फल, चिरौंजी, गिलोडा (कसमोतियाँ), गूलर, अंजीर, केवांच और मीठे दही का तोड़।

सुश्रुतोक्त मधुर वर्ग निम्नलिखित है—

काकोल्यादि:, क्षीर-घृत-वसा-मज्ज-शालि-षष्टिक-यव-गोधूम-माष-शृङ्गाटक-कसेरुक-त्रपुसैर्वारुक-कर्कारुका-लाबू-कालिन्द-कतक-गिलोड्य-प्रियाल-पुष्करबीज-काश्मर्य-मधूक-द्राक्षा-खर्जूर-राजादन-ताल-नारिकेरेक्षुविकार-बलातिबलात्मगुप्ता-विदारी-पयस्या-गोक्षुरक-क्षीरमोरट-मधूलिका-कूष्माण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्ग: ।

अम्ल-वर्ग—

अम्लो धात्रीफलाम्लीका-मातुलुङ्गाम्लवेतसम् ।
दाडिमं रजतं तक्रं चुक्रं पालेवतं दधि ॥
आम्रमाम्रातकं भव्यं कपित्थं करमर्दकम् ॥

आंवला, इमली, नीबू, बिजोरा नीबू, अम्लवेत, खट्टा अनार, चाँदी, मट्ठा, कच्चाआम, आमड़ा, चूक, आलूबुखारा, दही, कमरख, कैथा और करौंदा अम्लवर्गकी वस्तुएँ हैं। अष्टांगसंग्रहमें बड़हर, मोती, कमल, बनबैर, बर, नारंगी, दहीका तोड़ और कांजीको भी गिना है। सुश्रुतने तिन्तड़ीक, कोकम, बेतका फल, शराब, सिरका, सुर्मा, तुषोदक आदि भी अम्लवर्गमें गिनाये हैं।

सुश्रुतने अम्लवर्गमें निम्न द्रव्योंको गिनाया है—

दाडिमामलक-मातुलुङ्गाम्रातक-कपित्थ-करमर्द-बदर-कोल-प्राचीनामलक-तिन्तिडीक-कोशाम्रक-भव्य-पारावत-वेत्रफल-लकुचाम्लवेतस-दन्तशठ-दधि-तक्र-सुरा-सुक्त-सौवीरक-तुषोदक-धान्याम्लप्रभृतीनि समासेनाम्लो वर्ग: ।

लवण-वर्ग—

वरं सौवर्चलं कृष्णं विडं सामुद्रमौद्भिदम् ।
रोमकं पांसुजं शीशं क्षारश्च लवणो गण: ॥

सेंधानोन, सोचरनोन, कालानोन, विड़नोन, समुद्रनोन, वनस्पतियोंसे निकलनेवाला नमक और क्षार, सांभरनोन, सज्जीखार, पापड़खार, खारीनोन, शोरा, शीशा, जवाखार, पीपलखार, अपामार्ग क्षार आदि क्षार, काच लवण, रेह, पाक्यनोन (खारीपानी पकाकर जो निकाला जाय) इत्यादि लवणवर्गकी वस्तुएं हैं।

सुश्रुतोक्त लवणवर्ग नीचे लिखे अनुसार है—

सैन्धव-सौवर्चल-विड-पाक्य-रोमक-सामुद्र-पक्त्रिम-यवक्षारोषर-प्रसूत-सुवर्चिकाप्रभृतीनि समासेन लवणो वर्ग: ।

तिक्तवर्ग—

तिक्तः पटोली त्रायन्ती बालकोशीरचन्दनम् ।
भूनिम्बनिम्बकटुकातगरागुरुवत्सकम् ॥
नक्तमालद्विरजनीमुस्तमूर्वाटरूषकम् ।
पाठापामार्गकांस्यायोगुडूचीधन्वयासकम् ॥
पञ्चमूलं महद् व्याघ्र्यौ विशालाऽतिविषा वचा ॥

बनपरवर, त्रायमाण, सुगन्धबाला, खस, चन्दन, चिरायता, नीम, कुटकी, तगर, अगर, कुरैयाकी छाल, करंज, हल्दी, दारुहल्दी, नागरमोथा, मूर्वा, अडूसा, पाढ़ी, अपामार्ग, कांसा, लोहा, गुर्च, जवासा, धमासा, बेल, अरणी, खम्भार, पाटल, श्योनाक, छोटी भटकटैया, बड़ी भटकटैया, इन्द्रायण, अतीस, बच आदि तिक्तवर्गमें हैं। सुश्रुतमें कुछ और भी चीजें गिनायी गयी हैं। आरग्वधादि गण (अमलतास, मैनफल, सप्तपर्ण, कटसरैया, नीलझिंटी, चीता, चिलविल, करैला आदि), गुडूच्यादिगण (गुर्च, नीम, धनियां, पदमाख, लालचन्दन आदि), ब्राह्मी, मजीठ, वेत, इन्द्रजव, वरुण, गोखरू, शंखाहुली, नाय, मूषाकर्णी, निशोथ, रुद्रवन्ती, करील, वरियाराके बीज, अशोक, कनेर, मालती,, जयन्ती, पुनर्नवा, बिछुवा, मालकांगनी, तरोई, ककोड़ा, भटा, वैजन्ती सूरजमुखी आदि।

सुश्रुतोक्त तिक्तवर्गमें निम्नलिखित द्रव्य हैं—

आरग्वधादिर्गुडूच्यादिर्मण्डूकपर्णी–वेत्रकरीर–हरिद्राद्वयेन्द्रयव–वरुण–स्वादु–कण्टक–सप्तपर्ण–वृहतीद्वय–शङ्खिनी–द्रवन्ती–त्रिवृत्–कृतवेधन–कर्कोटक–कारवेल्ल–वार्ताक–करीर–करवीर–सुमनः–शङ्खपुष्प्यपामार्ग–त्रायमाणाशोक–रोहिणी–वैजयन्ती–सुवर्चला–पुनर्नवा–वृश्चिकाली–ज्योतिष्मती–प्रभृतीनि समासेन तिक्तो वर्गः ।

कटुवर्ग—

कटुको हिङ्गुमरिचकृमिजित्पञ्चकोलकम् ।
कुठेराद्या हरीतकाः पित्तं मूत्रमरुष्करम् ॥

हींग, मिर्च, वायविडंग, पीपल, पिपरामूल, चाब, चीता, सोंठ, तुलसी, बबई, दौना, देवमंजरी, सहिंजन, हरीतक, पित्त, मूत्र और भिलावां कटुवर्ग हैं। सुश्रुतने कुछ और भी चीजें गिनायी हैं। पिपल्यादिवर्ग (पीपल, गजपीपल, रेणुका, इलायची, अजवाइन, खुरासानी अजवाइन, अजमोदा, जीरा, स्याहजीरा, सरसों, राई, बकायन, भारंगी, मूर्वा, अतीस, वच, कुटकी आदि), मुनगा, मूली, लहसुन,

सफेदतुलसी, कपूर, कूठ, देवदारु, रेणुका, बाकुची, नागरमोथा, करियारी, गूगल, श्योनाक, पीलू तथा सालसारादिवर्ग (राल, खैर, श्वेतखैर, सुपारी, भोजपत्र, काकड़ासिंगी, अजश्रृङ्गी, लालचन्दन· सिरस, असन, धौ, अर्जुन, पूतिकरञ्ज, आदि)।

सुश्रुतोक्त कटुवर्गका उल्लेख इस प्रकार है—

पिप्पल्यादिः, सुरसादिः-शिग्रु-मधुशिग्रु-मूलक-लशुन-सुमुख-शीत· शिव-कुष्ठ-देवदारु-हरेणुकावल्गुजफल-चण्डा-गुग्गुलु-मुस्तलाङ्गलकी-शुकनासा-पीलुप्रभृतीनि सालसारादिश्च प्रायशः कटुको वर्गः।

कषाय वर्ग—

वर्गः कषायः पथ्याक्तं शिरीषः खदिरो मधु।
कदम्बोदुम्बरं मुक्ता प्रवालाञ्जनगैरिकम्॥
बालं कपित्थं खर्जूरं बिसपद्मोत्पलादि च॥

अर्थात् हर्रा, बहेड़ा, सिरस, खैर, शहद, कदम्ब, गूलर (कच्चाफल और छाल), मोती, प्रवाल, सुरमा, गेरू, कच्चा कैथ, खजूर, भसींड़ा, कमल, नीलकमल आदि कषायवर्गमें हैं। सुश्रुतने कुछ और चीजें भी गिनायी हैं। न्यग्रोधादिवर्ग (बरगद, पीपल, पाकर, आमड़ा, अर्जुन, आम (कच्चा, जाली पड़नेके पहलेका), आमड़ा, तेजपात, जामुन, बन जामुन, चिरौंजीका चार अर्थात् फलका गूदा, मुलेठी, जायफल, वेतस, कदम्ब, कच्चा बेरफल, शालवृक्ष, लोध, पठानी लोध, पलाश, नन्दीवृक्ष आदि), अम्बष्ठादिवर्ग (पाढ़ी, चांगेरी, धौका फूल, बाराहकान्ता, सोनापाठा, मुलेठी, पद्मकेसर आदि), प्रियंग्वादिवर्ग (प्रियंगु, नागकेसर, लाल· चन्दन, सफेद चन्दन, मोचरस, सुर्मा, मजीठ, जवासा आदि), लोध्रादि वर्ग (पठानीलोध, पलाश, अशोक, जायफल, कच्चाकेला, कच्चा कदम्ब आदि) त्रिफला, जामुन, आम, बकुल, तेन्दू, पाषाणभेद, पुष्पहीन वृक्षोंका फल, गूलर, अंजीर आदि, जीवन्ती, पालकी, कुश आदि।

सुश्रुतोक्त कषाय वर्ग इस प्रकार है—

न्यग्रोधादिरम्बष्ठादिः प्रियङ्ग्वादीरोध्रादिस्त्रिफला-शल्लकी-जम्ब्वाम्र-बकुल-तिन्दुकफलानि कतकशाक-फल-पाषाणभेदकवनस्पतिफलानि सालसारादिश्च प्रायशः कुरुबक-कोबिदारक-जीवन्ती-चिल्ली-पालक्या-सुनिषण्णकप्रभृतीनि नीवारकादयो मुद्गादयश्च समासेन कषायो वर्गः।

रसादिकी कार्यशक्ति और उनका अपवाद

ऊपर जिन गणोंका वर्णन किया गया है, उनमें कुछ ऐसे पदार्थ हैं कि जिनका नाम पहले किसी गणमें आ चुका है और फिर किसी दूसरे गणमें भी आया है।

उसका कारण यह है कि किसी पदार्थमें जो प्रधान रस होता है वह अपने रसके अनुसार कार्य करता है; परन्तु उसमें जो अनुरस या अव्यक्त रस या अणुरस होता है वह भी कुछ कार्य करता ही है। इसलिये अनुरसके लिहाजसे उसमें जो दूसरा स्वाद रहता है, उसका निर्देश करनेके लिये दूसरे वर्गमें भी उसका नाम आ गया है। एक एक गणमें जिन पदार्थोंका उल्लेख हुआ है, उनमें प्रायः कुछ सामान्य गुण-धर्म होते हैं। इसलिये यहाँ उनका उल्लेख कर देना आवश्यक है। हर एक पदार्थमें कुछ विशेष कार्य करनेकी शक्ति होती है। उसका विचार उस पदार्थके गुण-धर्मोंका विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करने पर हो सकता है। उसका कुछ उदाहरणरूप उल्लेख आगे भी होगा। इसके सिवाय कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जिनमें अपने गण अथवा वर्गके सामान्य गुण-धर्म भी भिन्न प्रकारके होते हैं। ऐसे पदार्थोंको उन गुण-धर्मोंके अपवादरूप समझना चाहिये। इस विषयका कुछ दिग्दर्शन नीचे देते हैं—

साधारणतः द्रव्य अपने रस और गुण कर्मके अनुकूल ही कार्य करते हैं। जो द्रव्य रस और विपाकमें मधुर तथा शीतवीर्य होते हैं जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें अम्ल होते हैं वे साधारणतः उष्णवीर्य होते हैं। इसी तरह जो द्रव्य रस और विपाकमें कटु होते हैं वे भी प्रायः उष्णवीर्य होते हैं। ऐसी दशामें द्रव्योंके रस-गुण तथा वातादि दोषोंका प्रकोपकत्व या शमनत्व निश्चित नियमके अनुसार होता है। किन्तु जब द्रव्यके संगठनमें या रस-विपाकादिके क्रमसे रसादि-संकरत्व होता है तो कुछ अन्तर होता है तब रसादिका कार्य भी नियम क्रमसे भिन्न हो जाया करता है। जैसे मधु रसमें मधुर होनेके कारण श्लेष्माका वर्धक होना चाहिये किन्तु शमन करता है। एवं साथ ही कटुविपाक तथा कुछ कषाय रसवाला भी होनेके कारण रूक्षतासे श्लेष्माका शमन करता है वही मधु शीतवीर्य होनेके कारण वायुको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जब भी वातकारक और मलवर्धक हो जाता है। अनूपदेशके जलजन्तु मधुररस वाले होने पर भी उष्णवीर्य होनेके कारण पित्तको बढ़ानेवाले होते हैं। तिल-तैल मधुररसवाला होने पर भी कटुविपाक होनेके कारण मल और मूत्रका विबन्ध करनेवाला कठिन होता है। कांजी अम्ल होने पर भी कफको बढ़ानेके बदले रूक्ष और उष्ण होनेके कारण कफको शान्त करती है। कैथेका फल अम्ल होने पर भी कफको न बढ़ाकर रूक्ष होनेके कारण कफको शान्त करता और शीतवीर्य होनेके कारण पित्तका भी शमन करता है। आंवला अम्ल होने पर भी पित्त और कफको न बढ़ाकर मधुर विपाक और शीतवीर्य होनेके कारण पित्तको शान्त करता है और रूक्ष तथा लघु होनेके कारण कफका भी शमन करता है। सेंधानमक भी मधुर विपाकके कारण पित्तको शान्त करता है और लघु होनेके कारण कफको भी नष्ट करता है सोंठ और पीपल कटुरसवाले द्रव्य हैं किन्तु मधुर विपाक,

स्निग्ध और उष्णवीर्य होनेके कारण दोनों वायुको शमन करनेवाली हैं। लहसुन और प्याज दोनों कटुरस वाले हैं, साथ ही स्निग्ध, उष्णवीर्य और गुरुगुणवाले भी हैं। अतएव वायुका शमन करते हैं। प्याज स्निग्ध और गुरु होनेके कारण कफको बढ़ाने वाला है। अव्यक्तरसवाली कच्ची सतिक्तमूली दोषनाशक होती है; किन्तु बढ़कर पकी मूली मधुरविपाक होनेसे कफको बढ़ानेवाली होती है। कटेरी, अर्क, पाढ़ी और अगर तिक्तरस और स्निग्ध होने पर भी पित्तको नष्ट करनेके बदले उष्णवीर्य होनेके कारण पित्तको बढ़ानेवाले हैं। बृहत्पञ्चमूल कषाय और तिक्तरस वाला होनेपर भी वायुवर्धक न होकर उष्णवीर्य होनेके कारण वातका शमन करता है। कषाय और तिक्तरस पित्तनाशक होनेपर बृहत्पञ्चमूल पित्तका शमन नहीं करता क्योंकि उष्णवीर्य है। कुलथी कषायरस होने पर भी वातको न बढ़ाकर अम्लविपाक होनेके कारण वायुका शमन करनेवाली है। किन्तु पित्तका शमन नहीं करती।

मधुर वर्गके पदार्थ प्रायः कफको बढ़ानेवाले होते हैं; परन्तु पुराने चावल, जव, गेहूँ, मूंग, शहद, मिश्री और जांगल जीवोंका मांस मधुर होने परभी कफकारक नहीं है। इन पदार्थोंको इसवर्गके गुण-धर्मके अपवादमें समझना चाहिये।

मधुरं श्लेष्मलं प्रायो जीर्णाच्छालियवादृते ।
मुद्गाद्गोधूमतः क्षौद्रात्सिताया जाङ्गलामिषात् ॥

अम्ल वर्गके पदार्थ प्रायः पित्तकारक होते हैं। अर्थात् उनके सेवनसे प्रायः पित्तकी वृद्धि होती है; परन्तु अनार और आँवला इस नियमके अपवाद हैं। अर्थात ये खट्टे होने परभी पित्तका प्रकोप नहीं कर सकते।

प्रायोऽम्लं पित्तजननं दाडिमामलकादृते ।

लवण वर्गके पदार्थ प्रायः नेत्रके लिये अपथ्यकारक होते हैं; परन्तु सेंधा नमक इस नियमका अपवाद है। अर्थात् सम्पूर्ण नमकीन पदार्थ आंखोंको कमजोर करते हैं; परन्तु सेंधानमकमें यह दोष नहीं है।

अपथ्यं लवणं प्रायश्चक्षुषोऽन्यत्र सैन्धवात् ।

तिक्त और कटु वर्गके पदार्थ बहुत करके अवृष्य हैं। अर्थात् उनके सेवन करनेसे वीर्यको हानि पहुँचती है और वे वातकारक होते हैं; परन्तु गुर्च, परवर, सोंठ, पीपल और लहसुन इस नियमके अपवाद हैं। अर्थात् ये वीर्यके लिये हानिकारक भी नहीं और वायुका प्रकोप करनेवाले भी नहीं हैं।

तिक्तं कटु च भूयिष्ठमवृष्यं वातकोपनम्
ऋतेऽमृतापटोलीभ्यां शुण्ठीकृष्णारसोनतः ॥

कषायवर्गके पदार्थ बहुत करके शीत गुणवाले होते हैं। और उनमें स्तम्भन

क्ति होती है। परन्तु हरें इस नियमके अपवाद हैं। हर्रा न तो शीतकारक है और स्तम्भक ही है; बल्कि विरेचक है। इस सम्बन्धमें जो रहस्यकी बातें हैं वे संक्षेपसे आगे कही जावेंगी—

कषायं प्रायशः शीतं स्तम्भनं चाऽभयामृते।

रसकी प्रधानता

यहां तक छः रसोंके विषयोंमें यथाशक्ति विवेचन किया गया। किसी पदार्थको मुँहमें रखते ही जीभसे सम्बन्ध होने पर जो स्वाद मालूम पड़ता है उसे 'रस' कहते हैं। अब देखना यह है कि इन छः रसवाले पदार्थोंका सेवन करनेसे शरीरमें किस प्रकारका परिणाम घटित होता है। हम जो कुछ आहार करते हैं, वह आमाशयमें जाकर भोजनके साथ लिये हुए जल और आमाशय तथा शरीरके भीतरकी गर्मीके सहारे मथता है और मथनेसे मांडके समान एक अधपका आमरस तैयार होता है। यही आमरस ग्रहणीके द्वारा छोटी आंतमें जाकर जठराग्नि और पित्तकी गर्मीसे पककर एक रस तैयार होता है। अर्थात् पांचभौतिक पदार्थोंके द्वारा जो भोज्य, भक्ष्य, लेह्य और पेय रूपमें चार प्रकारका आहार और आहारके आश्रित छहों रसों और उनके उष्ण या शीतवीर्य गुण (किसी किसीके मतमें गुरु, स्निग्ध, हिम, मृदु, लघु, रूक्ष, उष्ण और तीक्ष्ण ये आठगुणरूपी वीर्य) तथा अन्य गुणोंके द्वारा जो सम्यक् परिणत तेजोभूत, परमसूक्ष्म सार तैयार होता है उसे रस, आहाररस अथवा पाचकरस कहते हैं। यह रस जठराशयसे यकृत और प्लीहाके द्वारा हृदयमें जाता है और हृदयसे फिर चौबीसों धमनियोंमें प्रविष्ट होकर इधर-उधर दश-दश धमनियोंके द्वारा ऊपर और चार धमनियोंके द्वारा टेढ़े-मेढ़े होकर नीचे जाकर रातदिन सदैव शरीरको तृप्त करता है, बढ़ाता है, धारण करता है, और शरीरमें जो रातदिन क्षय-वृद्धिकी क्रिया होती रहती है, उसमें कमीकी पूर्ति करता रहता है। हृदय-देशसे आश्रित धमनियों द्वारा यह शरीरभरमें पहुँचता है; इसलिये इसका स्थान हृदय माना जाता है। इसकी क्रिया शरीरमें अदृष्ट हेतुसे, हमें साधारणतः किसी प्रकारका पता लगे बिना होती रहती है। इसकी कमीसे शरीरमें हृत्कम्प आदि कई विकार होते हैं। अधिक होनेसे भी आम-विकार आदि होते हैं। यह सम्पूर्ण शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंमें—दोष, धातु, मलाशय आदिमें पहुँचता है। यह द्रव, स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारण आदि गुणविशिष्ट सौम्य स्वभाववाला है। इस प्रकार रस-वीर्य-विपाक और प्रभावके निरूपणमें रसकी विशेषता है। इसे अन्यरूपसे भी हम प्रतिपादित करते हैं—

जिस प्रकार द्रव्य-गुण-कर्म और रस-वीर्यादिमें द्रव्य श्रेष्ठ है, उसी प्रकार रस-वीर्य-विपाक और प्रभावमें रस श्रेष्ठ है। द्रव्यकी श्रेष्ठता उसकी व्यवस्थाके कारण

है; क्योंकि द्रव्यकी अवस्थाके भेदसे द्रव्यके गुण-कर्मादिमें अन्तर आवे तो भी उसके द्रव्यत्वमें अन्तर नहीं आता। औषध और अन्नादिके रूपमें ग्रहण द्रव्यका ही होता है, गुण-कर्मादिका नहीं, अत एव द्रव्य प्रधान है और श्रेष्ठ है। इस बातको छोड़ कर अन्य बातोंमें रस ही प्रधान है और श्रेष्ठ है। किसी द्रव्यके वीर्य-विपाकादिका विचार तभी होगा जब किसी द्रव्यका ग्रहण होगा। ओषधि या अन्नरूपमें किसी द्रव्यको ग्रहण करते ही उसे मुखमें धारण करना पड़ता है। मुखमें धारण करते ही सबसे पहले उस द्रव्यके रसका ही अनुभव होता है। रस-प्रभावसे ही अन्य बातों का मिलान करना पड़ता है। मधुर रसकी शीतवीर्यता, अम्ल और कटु की उष्णवीर्यताका विचार रसज्ञानके पहचानसे ही होगा। अतएव रसकी प्रधानता और श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। द्रव्यके गुण-धर्म जाननेके लिये सबसे पहले उसके रसको समझना आवश्यक होता है। जिस प्रकार बलवान शरीर और बलवान अग्नि वालेके शरीरमें वातादि दोष अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते, उसी प्रकार बलवान रसके आगे अनुरस या वीर्यविपाकादिका प्रभाव काम नहीं देता। जिस प्रकार दुर्बल अनुबन्धरूप दोष बलवान अनुबन्धरूप दोषके अधीन हो जाता है उसी तरह भोजन तथा औषध रूपमें ग्रहण किये द्रव्योंके विविध रसोंमें से प्रधान रस सबके ऊपर रहता है और अपनी शक्तिके अनुसार गुण-क्रिया प्रकट करता है, इससे भी द्रव्यकी श्रेष्ठता प्रकट होती है।

जिस प्रकार सेनापतिकी प्रधानता होती है, उसी प्रकार रसादिमें रसकी प्रधानता है। सुश्रुत कहते हैं कि-रसकी प्रधानता आगम-शास्त्रसे सिद्ध है कहा भी है-'रसायत्त आहार' इति, तस्मिंस्तु प्राणाः।' अर्थात्—आहार रसके अधीन है और आहारसे ही प्राणकी रक्षा होती है। अतएव प्राणोंका पोषण करनेके लिये आहार की उपयोगिता है और आहारकी उपयुक्तता समझनेके लिये उस आहारका रस-ज्ञान होना अपेक्षित है। इस दृष्टिसे भी रसकी उपयुक्तता प्रतिपादित होती है। यदि कोई द्रव्य जीभमें रखते ही उसके असली रसकी उपस्थिति उसमें न मालूम पड़े तो उसका ग्रहण नहीं होता। विरस दूधको, खट्टे आसव-अरिष्टको, पके-गले फलोंके विरस होने पर कोई उन्हें ग्रहण नहीं करता अत एव रसकी प्रधानता सिद्ध है। 'मधुराम्ललवणा वातं जयन्ति, श्लेष्माणं जनयन्ति' इसी प्रकारका शास्त्रोपदेशकी घोषणा करता हुआ आयुर्वेद रसको प्रधानता देता है। द्रव्यकी उत्तमता या निकृष्टताका अनुमान या निर्धारण रसज्ञानके द्वारा ही होता है अत एव रसकी प्रधानता सर्वोच्च है। उपमारूपमें अपदेश करते हुए भी मधुर गीत, मधुर वाणी, कडुवा मनुष्य आदि शब्दोंके प्रयोगमें गीतकी उत्तमता, वाणीकी सरसता और मनुष्य स्वभावका परिचय देनेमें भी रसका प्रयोग होता है अत एव रसकी व्यापकता महान है। चिकित्साके व्यवहारमें भी रसका निर्देश होता है। किसीको

श्लेष्म व्याधि हो तो कहा जाता है कि आपके लिये मधुराम्ल-लवण रसकी आवश्यकता है। अतएव चिकित्सामें सहायक होनेकी दृष्टिसे भी रसकी प्रधानता प्रतिपादित होती है। रसकी प्रधानता अनुमानके द्वारा भी प्रतिपादित होती है। किसी अपरिचित द्रव्यकी परीक्षा करते समय उसे मुखमें रख देखा जाता है कि इसका रस कैसा है—आस्वाद कैसा है, फिर अनुमानसे कहा जाता है कि अरे यह तो मधुर है, यह कटु है आदि। यह मिश्री की मिठास है, यह गुड़की मिठास है, यह दही है, यह फिटकरी है, इसका अनुमान उसके रसके द्वारा ही हो सकता है। वेद ऋषिवचन हैं, उसमें भी यज्ञप्रकरणमें कहा जाता है कि यज्ञार्थ कुछ मधुर द्रव्य लाओ। इस प्रकार वेदसे, शास्त्रोपदेशसे, प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान प्रमाणसे, ऋषिवचनोंसे, प्राणरक्षाकी दृष्टिसे, द्रव्यज्ञानकी अपेक्षासे रसकी प्रधानता और उपयोगिता तथा श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। व्यवहारमें भी रसकी व्यापकता है। अतएव रस सबमें श्रेष्ठ है।

वीर्य-परिज्ञान

वीर्यकी परिभाषा

इस आहाररसमें जो कार्यकारिणी शक्ति होती है, अर्थात् जिस शक्तिके द्वारा द्रव्य या रस अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है उसे वीर्य कहते हैं। अर्थात रस—विपाक और प्रभावके अतिरिक्त द्रव्यमें जो विशेष कार्यकारिणी शक्ति है, उसीको वैद्यकशास्त्रमें वीर्य संज्ञा दी गयी है।

वीर्य शब्दकी परिभाषा करते हुए चरक (सू. अ. २६) कहते हैं—

'येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्'

अर्थात् द्रव्य जिस प्रभाव या शक्तिके द्वारा अपना कर्म सम्पादन करनेमें सफल होता है उसे वीर्य कहते हैं। द्रव्य अपनी वीर्य-शक्तिके विना कुछ करनेमें समर्थ नहीं होता। इसलिये वीर्यकी महिमा द्रव्यके कार्यक्षम होनेमें प्रधान सहायक है—

'नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया'।

द्रव्य ही नहीं रस भी वीर्यके बलपर ही अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। विपाक क्रिया भी वीर्यकी शक्ति पर निर्भर रहती है। रसादिका प्रभाव वीर्यके अधीन है; उनका स्वकार्य-साधन वीर्यके द्वारा ही सम्पन्न होता है।

इस प्रकार वीर्यको शक्ति-पर्यायवाची समझना चाहिये—

'वीर्यमिति शक्तिः'

'वीर्यमिति शक्तिः' इस वाक्यसे भी सिद्ध होता है कि वीर्यका लक्षण शक्ति-पर्याय है। जिस शक्तिके द्वारा रस अपने गुण-कर्मोंको पूर्ण करते हैं, जिस शक्तिके द्वारा द्रव्योंका विपाक और विपाकके परिणामस्वरूप कर्म सम्पादित होते हैं, जिस शक्तिके द्वारा द्रव्यका गुण-कर्म-प्रभाव प्रकट होता है, यही नहीं बल्कि गुर्वादि बीसों गुण, परादि गुण अथवा सत्त्व-रज-तम मानसगुण अपना-अपना कार्य जिस शक्तिके द्वारा करते हैं और गुण-प्रकाश करनेमें समर्थ होते हैं उस शक्ति-समूहको वीर्य समझना चाहिये। द्रव्योंके द्वारा जो तर्पण, प्रह्लादन, शमन आदि क्रियाएं हैं वे भी वीर्यके द्वारा ही सम्पादित होती हैं। वह शक्ति चाहे द्रव्यस्वभावरूपी हो अर्थात् द्रव्योंकी पांचभौतिक रचनाके कारण हो, चाहे रसरूप हो, चाहे विपाकरूप हो, चाहे उत्कृष्ट-शक्ति-सम्पन्न शीतोष्णादि गुणरूप हो, चाहे द्रव्यगत सारभागका सत्त्वांशरूपमें हो, सभी वीर्य हैं। कोई द्रव्य तभी कार्य साधन कर सकता है जब वीर्य-सम्पन्न हो, निर्वीर्य द्रव्यमें कार्यसाधन-क्षमता नहीं होती, इससे भी वीर्यका शक्तिरूप प्रतिपादित होता है। इसकी परिभाषाका—

'येन या क्रिया क्रियते तद्वीर्यम्'

वाक्य भी यही सिद्ध करता है कि 'येन' अर्थात् जिस शक्तिके द्वारा 'या क्रिया क्रियते' द्रव्य या गुण जो क्रिया सम्पादित करते हैं द्रव्यस्थित वह सब गुणपूरक शक्तिका नाम वीर्य है। अर्थात् द्रव्य या गुणकी क्रिया-साधन-शक्तिका नाम वीर्य है। द्रव्य केवल गुणप्रभावसे ही कार्मुक-कार्यसमर्थ नहीं होते, बल्कि द्रव्य द्रव्यप्रभावसे, गुणप्रभावसे तथा द्रव्यगुण-प्रभावसे जो कार्य सम्पादित करते हैं वही वीर्य है।

जब हम वीर्य को शक्ति मानते हैं तब यह समझना होगा कि—पृथिव्यादि भूतोंके गुणोंमें या सारभागके गुणोंमें जो अतिशय शक्ति-सम्पन्नता होती है उस क्रियाशक्तिको ही वीर्य कहा जायगा। यह शक्ति चिन्त्य और अचिन्त्य दो प्रकारकी होती है। जो चिन्त्यशक्ति द्रव्यके गुणों अर्थात् रसादिमें अपने-अपने गुण-कर्मके अनुरूप स्वभाव-सिद्ध रूपसे क्रियाहेतु-साधक होती है, वही असली वीर्य है। द्रव्योंमें नहीं बल्कि उसमें जो क्रियाहेतुरूपसे ऐसी शक्ति होती है जिसका विचार हम रस-वीर्य-विपाक परम्पराके अनुकूल नहीं समझ पाते वह अचिन्त्य शक्ति वीर्य नहीं कहलाती ऐसी अचिन्त्यशक्ति प्रभावके अन्तर्गत आती है। यह मत धन्वन्तरि-समर्थित है—

भूतप्रसादातिशयो द्रव्ये पाके रसे स्थितः।
चिन्त्याचिन्त्यक्रियाहेतुर्वीर्यं धन्वन्तरेर्मतम्।

इस दृष्टिसे द्रव्यके गुणरूप रस तथा विपाकमें अपना-अपना कार्य सम्पन्न करने का जो चिन्त्य सामर्थ्य या शक्ति होती है उसे वीर्य और जो द्रव्यमें अचिन्त्य शक्ति है उसे प्रभाव समझना चाहिये। धर्म और धर्मीमें भेद नहीं होता; अत एव यह न समझना चाहिये कि रसमें या विपाकमें भी वीर्य कहा जाता है। यहां द्रव्यके वीर्यका प्रसङ्ग ही नहीं उठता। 'येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्' पदसे स्पष्ट है कि-'येन' अर्थात् जिसके द्वारा कार्य सम्पादित होता है वह वीर्य है। येन 'यहां' करण-तृतीया है। करण शक्तित्वसूचक है, द्रव्य कर्ता है। कर्तारूप द्रव्य करणरूप शक्तिके द्वारा जो परिणाम उपस्थित करता है-आरोग्यादि सम्पादन करता है वह कर्म है। यदि हम शक्तिमात्रको वीर्य मान लें तब तो रसादिको भी वीर्य कहना पड़े; किन्तु हमारा अभिप्राय द्रव्यके निपात (शरीरावयवोंके संयोगमें तत्काल आनेसे) एवं अधिवास (शरीरावयवोंमें द्रव्य रहनेसे) तथा निपात और अधिवास दोनोंसे और शरीरावयवोंपर सम्पन्न होनेवाला उनके कर्म या शक्तिविशेषको वीर्य नामसे अभिहित करनेका है। इस दृष्टिसे हरिद्वारकी शास्त्रचर्चापरिषद्में वीर्यकी जो परिभाषा निश्चित हुई है— वही उचित है। कुछ लोग वीर्यको अंग्रेजीमें 'एक्टिव प्रिंसिपल' कहते हैं, इस परिभाषासे उसका भी निषेध हो जाता है—

द्रव्यस्थित उस उत्कृष्ट एवं चिन्त्य गुण या शक्तिको वीर्य कहते हैं जिसके कारण (द्वारा) द्रव्य अपना कार्य शरीरके विविध अवयवों पर करता है। इसका ज्ञान वीर्यवान द्रव्यके निपात (अर्थात् शरीरावयवोंके संयोगमें तत्काल आने) तथा अधिवास (शरीर के अवयवों में कुछ कालतक रहने) से एवं निपात तथा अधिवास दोनोंसे और शरीरावयवों पर उनके कर्मसे होता है। वीर्यके सम्बन्धमें दो विचार प्रचलित हैं—अष्टविध तथा द्विविध; परन्तु इनका कोई परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि अष्टविध वीर्योंका भी द्विविध वीर्यके अन्दर ही अन्तर्भाव हो जाता है। अंग्रेजीमें इन सभी अर्थोंका बोधक कोई एक शब्द नहीं उपलब्ध होता; अतः अंग्रेजीमें भी उसे 'वीर्य' शब्द द्वारा ही उल्लेख करना चाहिये। उक्त परिषद्में 'वीर्य'के लिये अंग्रेजी प्रतिशब्द 'एक्टिव प्रिंसिपल' के सम्बन्ध में भी विचार किया गया। 'एक्टिव प्रिंसिपल' द्रव्यके 'कार्मुक अंश'को कहते हैं जो द्रव्य का ही एक भाग है, गुण अथवा शक्ति नहीं।' इस कथनके पश्चात् अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

वीर्यभेद

वीर्यके भेदके सम्बन्धमें भी काफी मतभेद है। अष्टाङ्गहृदय और अष्टाङ्गसंग्रहकारने तो स्पष्टरूपसे शीतवीर्य और उष्णवीर्य दो प्रकारके वीर्य स्वीकार किये हैं। चरकसंहितामें भी यद्यपि इन दो प्रकारके वीर्योंको स्वीकार किया है; तथापि

आरम्भमें आठ प्रकारके वीर्योंका जिक्र कर एक झमेला कर दिया है। आप कहते हैं—

मृदुतीक्ष्ण-गुरु-लघु-स्निग्धं रूक्षोष्णशीतलम्।
वीर्यमष्टविधं केचित्, केचिद् द्विविधमास्थिताः॥
शीतोष्णमिति, वीर्यन्तु क्रियते येन या क्रिया।
नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया॥

वैद्यकमें रस-विपाक और प्रभावके अतिरिक्त अधिक कार्यकारी गुणके स्वरूपमें 'वीर्य' को स्वीकार किया गया है। पदार्थके गुणोंका वर्णन करते हुए गुरु, मन्द, हिम, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, सान्द्र, मृदु, स्थिर, सूक्ष्म और विशद ये १० प्रधान और १० इनके विपर्यय २० गुण स्वीकार किये गये हैं। इनमेंसे मृदु, गुरु, स्निग्ध और हिम अर्थात् शीतलके चार गुण १० प्रधानमेंसे हैं और लघु जो कि गुरुका विपरीत गुण है। तीक्ष्ण मन्दका विपरीत है, रूक्ष स्निग्धका विपरीत है और उष्ण शीतका विपरीत है। अर्थात् ये सभी द्रव्यके गुण हैं। मृदु-तीक्ष्णादि द्वारा जो क्रिया सम्पादित होती है वह द्रव्यकर्म है और वीर्य रूपमें जो क्रिया सम्पादित होती है गुणशक्ति है। वीर्य एक विशिष्ट शक्ति है, उसे बहुसंख्यामें बांटकर उसका महत्त्व घटाना उचित नहीं है। गुर्वादि गुणोंके द्वारा जो क्रिया सम्पादित होती है वह साधारण कोटिकी होती है; किन्तु वीर्य नामकी क्रियाशक्ति यद्यपि चिन्त्य होती है तथापि वह विशिष्ट प्रकारकी होती है। यद्यपि शीत और उष्ण भी गुणोंके अन्तर्गत हैं; किन्तु उनके वीर्य होनेमें एक वैज्ञानिक परम्पराका प्रबल आधार है। इसके सिवाय चरक अपने अष्टवीर्यको विशेष प्रधानता भी नहीं दी, दो वीर्योंका ही उन्होंने उल्लेख किया है। विशेष कर अष्टाङ्गहृदयकारने इस मतका खण्डन कर दो वीर्यों परही जोर दिया है। अतएव वीर्य दो प्रकारका है; अर्थात् शीतवीर्य और उष्णवीर्य। ऊपरके वर्णनसे अष्टवीर्यका विषय खण्डित हो जाता है। क्योंकि यद्यपि गुरु आदि पदार्थ कार्य करनेमें समर्थ होते हैं और पदार्थोंका गुण कथन करनेमें पहले यही कहा जाता है कि यह पदार्थ भारी है, यह हल्का है। रसोंका रूप परिवर्तन भी हो जाता है, जैसे आम कच्चेमें कषाय, जाली पड़नेपर खट्टा और पकनेपर मीठा होता है; किन्तु उसमें जो भारीपन गुण है वह कायम रहता है और भारी, हलके आदि पदार्थ अपना गुण दिखाते हुए पाये जाते हैं। इसलिये कुछ आचार्योंको इस विषयकी प्रवृत्ति हुई कि इन गुणोंको वीर्य कहें तो भी ये गुण द्रव्योंके गुण मात्र हैं। ये किसी द्रव्यके कर्मके निदर्शक वीर्यशब्दके पारिभाषिक अर्थानुरूप लक्षण मात्र हैं, करणरूप शक्ति नहीं हैं। द्रव्यगत गुण जिस शक्तिके द्वारा कार्य सम्पन्न करता है उसे वीर्य कहते हैं। गुणोंको वीर्य नहीं कहते; गुणगत शक्तिके अनुभवको वीर्य कह सकते हैं। इसलिये ऊपरके आठ गुण या बीस गुण वीर्य नहीं है। ऐसे आचार्योंने बीस गुणोंमेंसे आठको ही वीर्य माना है, उसका कारण यही होगा कि

पिच्छिल—विशद आदि साधारण गुणोंमें प्रायः रसादिके विरुद्ध क्रिया करनेकी शक्ति नहीं होती, परन्तु मृदु, तीक्ष्ण आदि गुण रसादिकोंके विपरीत भी क्रिया करते हैं। जैसे पिप्पली कटुरसवाली है, कटुरसके कारण उससे पित्तका प्रकोप होना चाहिये; परन्तु मधुर विपाक होनेके कारण वह रसशक्तिको अलग रख पित्तका शमन करती है। ऐसा होते हुए भी वीर्यकी शक्ति कहीं विशिष्ट प्रकारकी होती है बिल्वादि पंचमूल कषाय-तिक्तरसप्रधान है। इस गुणानुसार इनसे पित्तकी शान्ति होनी चाहिये; परन्तु उष्णवीर्य होनेके कारण इनसे वायुका शमन होता है। इसी तरह ऊखका रस मधुर और उसका विपाक भी मधुर है। अतएव इससे वायुकी शान्ति होनी चाहिये, परन्तु शीतवीर्य होनेके कारण रसगुणके विपरीत वह वायुको बढ़ाता है। अतएव विशिष्ट शक्तिसम्पन्न वीर्य शीत और उष्ण ही अधिक जंचते हैं इसीलिये सुश्रुतने द्रव्य-कर्मोंको वीर्य कहनेकी अभिरुचि दिखाई है।

वीर्यके भेदोंकी समस्या हल करनेमें सुश्रुत और सुश्रुतमतानुयायी भदन्त नागार्जुनके विचारोंको भी समझना होगा। सुश्रुतका मत है कि-द्रव्य, रस या विपाक-प्रधान नहीं है वीर्य-प्रधान है, ओषधिके कर्म वीर्यसे सम्पन्न होते हैं। ओषधियोंके कर्ममें ऊर्ध्वभाग-संशोधन, अधोभाग-संशोधन, उभयभाग-संशोधन, संशमन, संग्राहि, अग्निदीपन, पीडन, लेखन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथुकर, विलयन, दहन, दारण, मादन, प्राणघ्न, विषप्रशमन जो कर्म होते हैं वे वीर्यकी प्रधानतासे होते हैं। वहांपर सोचनेकी बात है कि यद्यपि लेखन-बृंहणादिमें कर्मकर्तृत्व शक्ति है तथापि ये द्रव्य-कर्मदर्शक गुणमात्र हैं। जिन द्रव्योंमें प्रधानतासे जो गुण प्रकट करनेकी शक्ति है, या जो कर्म सम्पादनकी शक्ति है उसीके ये निदर्शक हैं। इन्हें वीर्य नहीं कहा जा सकता। वीर्य तो रसादि गुणोंकी वह विशिष्ट शक्ति है, वह विशिष्ट करणशक्ति है जिसके द्वारा कर्ता विशिष्ट कर्मका सम्पादन करता है।

सुश्रुतने चरकके मतका भी उल्लेखकर विचार किया है। आप कहते हैं कि-कुछ आचार्य शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, विशद-पिच्छिल तथा मृदु और तीक्ष्ण ऐसे आठ वीर्य मानते हैं। क्योंकि ये वीर्य अपने बल या शक्तिरूपी गुणकी उत्कृष्टतासे रस और विपाकका भी पराभव कर अपना कार्य सम्पादन करते हैं। इसके समर्थनमें आप उदाहरण देते हैं कि कषाय रस और तिक्त अनुरसवाला बृहत्पञ्चमूल अपने उष्णवीर्यके कारण वायुका शमन करता है, कषायरस युक्त कुलथी; कटुरस वाला प्याज, उष्ण और शीतवीर्य होनेसे वायु का शमन करते हैं। ऊख का रस मधुररस वाला होनेपर भी शीतवीर्य होनेसे वायुको बढ़ाता है, कटुरस पिप्पली मृदु और शीतवीर्य होनेके कारण पित्तका शमन करती है। अम्ल आमलक और लवण सैंधव मृदु और शीतवीर्य होनेके कारण पित्तको शान्त करते हैं। तिक्तरसवाली मकोय उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाती है। मछली मधुररस होनेपर भी उष्णवीर्य होनेके

कारण पित्तको बढ़ाती है। पक्की मूली कटुरस होनेपर भी स्निग्धवीर्य होनेके कारण कफको बढ़ाती है। कैथा अम्ल होनेपर भी रूक्ष होनेके कारण कफको शान्त करता है। मधु मधुर होनेपर भी रूक्षवीर्य होनेसे कफको शान्त करता है। इन उदाहरणोंमें अधिक तो उष्णवीर्य और शीतवीर्यके ही समर्थक हैं। रह गये स्निग्ध और रूक्ष ये वीर्य नहीं गुण हैं। सुश्रुतने ऊपरके कथनसे एक सिद्धान्त स्थिर किया है कि मधुर-अम्ल और लवण रसवाले द्रव्य रसशक्तिसे वायुका शमन करते हैं; किन्तु यदि उनमें रूक्ष, लघु या शीतवीर्य हों तो वायुका शमन नहीं कर सकते, मधुर-तिक्त और कषाय रसवाले द्रव्य रसप्रभावसे पित्तका शमन करनेवाले होते हैं; परन्तु यदि उनमें तीक्ष्ण-उष्ण और लघुवीर्य हों तो वे पित्तका शमन नहीं कर सकते। कटु-तिक्त और कषाय रसवाले द्रव्य कफको शान्त करनेवाले होते हैं; किन्तु यदि उनमें स्निग्ध, गुरु और शीतवीर्य हों तो वे कफका शमन नहीं कर सकते। इस सिद्धान्तमें हमें कोई आपत्ति नहीं; किन्तु जहां रूक्ष, लघु, स्निग्ध, गुरु आदिको वीर्य कहा गया है वहां द्रव्यगुण कहा जाय। वीर्य तो रसादिकी चिन्त्यगुण शक्ति है वह अपना कार्य-साधन अपनी पद्धतिसे करता ही; किन्तु जहां रसादिके विपरीत कर्मप्रभाव देखा जाता है वहां प्रभावकी अचिन्त्यशक्ति भी कार्य करती है, इसे भूलना नहीं चाहिये। वीर्यकी प्रधानता अपनी विशिष्ट शक्तिके रूपमें है ही। चरक कथित आठ वीर्योंमें गुरु और लघुको भी वीर्य रूपमें गिनाया गया है; किन्तु सुश्रुत मालूम पड़ता है कि गुरु-लघुको विपाक मानते हैं। अतएव इनके बदले उन्होंने विशद और पिच्छिलको वीर्य रूपमें लिखा है; किन्तु विशद और पिच्छिल ऐसे उत्कृष्ट कर्मवाले गुण नहीं हैं जिन्हें वीर्यकी श्रेणीमें रखकर विचार हो।

अपने अष्टवीर्यके विचारको आगे बढ़ाते हुए सुश्रुत कहते हैं कि ये जो वीर्य संज्ञक आठ गुण हैं; इनमेंसे तीक्ष्ण और उष्ण ये दो वीर्य अग्निमहाभूतके गुणोंकी अधिकतावाले हैं। शीत और पिच्छिल ये दो जलकी गुणोंकी अधिकता वाले हैं। स्निग्ध पृथ्वी और जलके गुणोंकी अधिकता वाला है। मृदु जल और आकाशके गुणोंकी अधिकता वाला है। रूक्ष वायुके गुणोंकी अधिकता वाला है। विशद पृथ्वी और वायुके गुणोंकी अधिकता वाला है। उनके कर्मोंका दिग्दर्शन भी करा दिया जाता है—(१) उष्णवीर्य—शरीरपर दाह, पचन (अन्न-धातु-रस-व्रणशोथ आदिको पकाना), मूर्च्छा, स्वेदन, वमन, विरेचन, विलयन (पिघलाना), वायु तथा कफका शमन, भ्रम, तृषा, ग्लानि और पित्त उत्पन्न करनेका कर्म करता है। उष्णवीर्य लघु और शुक्रकी हानि करनेवाला है। (२) शीतवीर्य या शीतवीर्यवाले द्रव्य शरीरपर प्रह्लादन (उष्णतासे पीडितोंको सुखी करना), स्राव रोकना, स्थिरता लाना, प्रसन्नता बढ़ाना, स्वच्छ करना, क्लेद सुखाना, मूर्च्छितको संज्ञा प्रदान करना, स्तम्भन करना, रक्तपित्तको शान्त करना, कफ और वायुको बढ़ाना आदि

कर्म करता है। शीतवीर्य गुरु और हृद्य है। (३) स्निग्धवीर्य युक्त द्रव्य-स्नेह, बृंहण, संतर्पण, वाजीकरण, वयःस्थापन और वातका नाश करनेवाला है। (४) रूक्षवीर्य युक्त द्रव्य वायुको बढ़ानेवाला, ग्राही, पीडन (व्रणपीडन), रूक्षता लानेवाला, व्रणरोपण और कफ नाश करनेवाला है। (५) विशदवीर्य युक्त द्रव्य क्लेद अर्थात् गीलेपनको चूसने या सुखानेवाला, रूक्षता उत्पन्न करनेवाला, व्रणरोपण और कफका नाश करनेवाला है (६) पिच्छिल वीर्ययुक्त द्रव्य चिकनाहट लाने, पूरण करने, बृंहण, संश्लेषण (चिपकानेका काम), वाजीकरण और पित्तका नाश करनेवाले होते हैं। (७) मृदुवीर्ययुक्त द्रव्य रक्त और मांसका प्रसादन करनेवाले, स्पर्शमें सुख उत्पन्न करनेवाले, और पित्तका नाश करनेवाले हैं। (८) तीक्ष्णवीर्य युक्त द्रव्य ग्राही, चूसन अर्थात् शोषण करनेवाले, व्रणशोथका विदारण करनेवाले, मुख-नासादिका स्राव करानेवाले तथा कफनाशक होते हैं। मृदु-शीत और उष्णवीर्यका स्पर्शसे ग्रहण (ज्ञान) होता है। पिच्छिल और विशदवीर्यका दर्शन औरस्पर्शनसे ग्रहण (ज्ञान) होता है। स्निग्ध और रूक्षवीर्यका दर्शनसे ज्ञान होता है, तीक्ष्ण वीर्यका मुख और नाकमें दुःख उत्पन्न होनेसे ज्ञान होता है। कविराज हाराणचन्द्रकी सम्मतिमें तीक्ष्ण और उष्ण आग्नेय हैं, गुरु और शीत पृथ्वी और जलके गुणोंकी अधिकता वाले हैं, स्नेह जलके गुणोंकी अधिकतावाला, मृदु, जल और आकाशके गुणोंकी अधिकतावाला, रूक्ष वायुके गुणोंकी अधिकतावाला, तथा लघु अग्नि-आकाश और वायुके गुणोंकी अधिकतावाला है। इनमेंसे गुरु-उष्ण और तीक्ष्ण वातघ्न हैं, मृदु और शीत ये पित्तघ्न हैं एवं लघु-तीक्ष्ण और रूक्ष ये तीन कफघ्न हैं। आपकी सम्मतिमें शीत, उष्ण और स्निग्ध वीर्यका अनुमान आह्लादन, पाचन, स्तम्भन आदि कर्मोंसे, रूक्ष-गुरु और लघु वीर्यका रूक्षण, उपलेपन, लेखन आदि कर्मोंसे, तीक्ष्ण वीर्यका ज्ञान दहन-पचन आदि कर्मोंसे तथा मृदु वीर्यका उसके (तीक्ष्णके) विपरीत कर्मोंसे अनुमान किया जाता है।

परन्तु सुश्रुतका ऊपर लिखा हुआ विवेचन इस प्रवृत्तिको प्रोत्साहित करना चाहता है कि द्रव्यगतकर्म वीर्य है और उनका ज्ञान दर्शन-स्पर्शन आदि बाह्य उपचारोंसे भी होता है। इसके रस-वीर्य-विपाकका प्रसङ्ग स्पष्ट निर्देश करता है कि किसी औषध और आहार द्रव्यका ग्रहण मुख द्वारा होने और जिह्वा द्वारा रसास्वाद लेनेके पश्चात् जो गुणकर्म पचनादि क्रियाके साथ सम्बन्ध रखता है और उससे जो विशिष्ट शक्तिका बोध होता है वह वीर्य है। सुश्रुतका नीचे लिखा वाक्य इस मतका समर्थन करते दीखता है—

एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म दर्शयन्ति।

'रसमभिभूयात्मकर्म दर्शयन्ति' पद स्पष्ट सूचित करता है कि वीर्यकी क्रिया-शक्तिका प्रभाव रस-ग्रहणके पश्चात् प्रकट होनेवाला है। वह प्रभाव पचनक्रियासे

लेकर विपाक क्रियाके सम्पन्न होने तथा उसके बाद भी शक्तिप्रदर्शनके समय तक होता है। ऐसी दशामें इन्हें वीर्यके पारिभाषिक अर्थमें ग्रहण किया गया हो; तथापि इन्हें स्वयं वीर्य मान लेना उचित नहीं। जैसे जब हम यह कहते हैं कि रेलगाड़ी चलती है; तब उसका यह अर्थ नहीं होता कि काठ–लोहा आदिकी बनी गाड़ी स्वेच्छासे चलती है अर्थात् गतिमान् क्रिया इन लकड़ी लोहेके समूहमें नहीं है। कोई कहे कि आग और पानी चलाते हैं तो यह भी ठीक नहीं है। किन्तु आग और पानीके मेलसे जो भाप पैदा होती है उस भापकी शक्तिका यथायोग उपयोग होनेसे ही गतिकी उपलब्धि होती है। यद्यपि आग और पानी रेल चलानेके कारण हैं तथापि वे स्वयं भापकी शक्ति उत्पन्न हुए बिना कुछ कर नहीं सकते। कर्ताके द्वारा करणका उपयोग होनेके पश्चात् करणशक्तिकी सहायतासे कर्मफलकी प्राप्ति होती है।

अतएव अष्टवीर्यकी कल्पना उचित नहीं जँचती। वीर्यशक्तिकी उत्पत्तिके लिए शरीरावयवपर वीर्यवान द्रव्यके निपात एवं अधिवासका प्रसंग उपस्थित होना आवश्यक है। यद्यपि निपातका कार्य किसी भी शरीरावयवपर हो सकता तथापि यथासम्भव उसका ग्रहण जिह्वापर निपात होनेसे लेना ठीक होगा।

हमें भदन्त नागार्जुनके मतपर भी दृष्टि डाल देना आवश्यक है। नागार्जुन वीर्यकी परिभाषा 'कर्मलक्षणं वीर्यम्' करते हैं। आपका अभिप्राय यह है कि शंखाहुलीके उपयोगसे मेधाकी उत्पत्ति और मैनफलसे वमनरूपकर्मकी जो प्राप्ति होती है वह मेधाजनन और वमनरूप कर्मसे होती है। इसी दृष्टिसे आपने छर्दनीय, अनुलोमनीय, उभयतोभागसंशोधनीय, प्रशमन, संग्रहण, दीपनीय, प्राणघ्न, मदन, विदारण, श्वयथुकरण, श्वयथुविलयन, आयुष्यकर, वृष्य, वयःस्थापन, वर्चस्य, रक्षोघ्न, आदि कितने ही वीर्य माने हैं। यहां तक कि सौभाग्यकर, विशल्यकर, विमोक्षकरण (बेड़ी या जंजीर तोड़नेवाला), वशीकरण, विद्वेषण, प्रवासन (देशसे निकालनेवाला), आकर्षण, आन्तर्धानिक (अदृश्य करनेवाला); राजद्वारिक (राजाको वश करनेवाला) आदि भी आपकी वीर्य–संज्ञामें आ गये हैं। अवश्य ही आपने अपने विवरणमें तर्क भी दिये हैं। किन्तु इसके विस्तारमें जाना हमें अभीष्ट नहीं दीखता। आपने शीत, उष्ण आदि प्रकृष्ट शक्ति–सम्पन्न गुणोंको वीर्य मानना अस्वीकार किया है। और अपने वीर्योंका गुण कथन भी किया है। छर्दनीय—ऊर्ध्वगतिस्वभाव अग्नि और गतिशील वायुसे उत्पन्न होकर मधुरादिमें से किसी एक रसका आश्रय लेकर रहता है। अनुलोमनीय—अधोगति स्वभाववाले जल और पृथ्वीसे उत्पन्न होकर सभी रसोंका आश्रय कर रहता है। उभयतोभाग वीर्य वायुको उत्पन्न करनेवाले कटु, तिक्त और कषायरस तथा पित्तको उत्पन्न करनेवाले तीक्ष्ण, उष्ण और लघु गुणके आश्रयमें रहता है। इसकी उत्पत्ति

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुसे होती है। प्रशमन—वात-पित्त-कफ आदि अपने-अपने रसों और गुणोंसे विपरीत रसों और गुणोंके आश्रयमें रहनेवाला है। जैसे वातप्रशमन मधुर-अम्ल-और लवणरस तथा गुरु, उष्ण, स्निग्ध और पिच्छिल गुणमें आश्रयकर रहता है। पित्तप्रशमन कषाय-मधुर और तिक्तरस, शीत-गुरु-मृदु और पिच्छिल गुणोंके आश्रयमें रहता है। कफप्रशमन कषाय-कटु और तिक्तरस तथा तीक्ष्ण-रूक्ष और विशद गुणोंका आश्रयकर रहता है। सांग्राहिक पृथ्वी और वायुसे उत्पन्न होकर लवणके अतिरिक्त अन्य पांचरसों और तीक्ष्ण एवं उष्ण गुणोंको छोड़ अन्य गुणोंका आश्रयकर रहता है। यह पित्त और कफका प्रशामक है। दीपनीय अग्निसे उत्पन्न होकर पित्तको उत्पन्न करनेवाले कटु-अम्ल-और लवणरस तथा तीक्ष्ण-उष्ण और लघु गुणोंको आश्रय कर रहता है। मदनीय सभी रसों तथा तीक्ष्ण-उष्ण, रूक्ष, विशद और लघुगुणको आश्रय करके रहता है। इसकी उत्पत्ति अग्नि और वायुसे होती है। प्राणघ्न—अग्निसे उत्पन्न, शीघ्र आशुकारी, सुषिर, व्यवायी, विकासी (उष्ण-सूक्ष्म-तीक्ष्ण-विशद-लघु तथा रूक्ष) गुणोंका आश्रयकर रहता है। प्रदरण या विदारण पृथ्वी और अग्निसे उत्पन्न हो पित्तको उत्पन्न करनेवाले कटु-अम्ल और लवणरस और तीक्ष्ण तथा उष्ण गुणको आश्रयकर रहता है। श्वयथुजनन अग्नि और वायुसे उत्पन्न होकर मधुर और कषायरसको छोड़ शेष चार रसों और तीक्ष्ण-उष्ण एवं रूक्ष गुणोंके आश्रयमें रहता है। श्वयथुविलयन जल और पृथ्वीसे उत्पन्न होकर छहों रस एवं शीत-मृदु और पिच्छिल गुणोंका आश्रयकर रहता है। शोधन—चाहे किसी एक दोषको निकालनेके लिये ही दिया गया हो तथापि वह एक या अनेक दोषोंको निकालता है। जसे कफ निकालने के लिये वामक द्रव्य दिया जाता है और कफके सिवाय पित्तको भी निकालता है। पित्त निकालनेके लिये दिया गया विरेचन कफ और वायुको भी निकालता है। प्राणघ्न, मदन और प्रदरण सभी दोषोंका प्रकोप करते हैं। श्वयथुजनन द्रव्य वायु और पित्तका प्रकोप करते हैं। श्वयथुविलयन द्रव्य सब दोषोंका प्रशमन करते हैं। मेध्य द्रव्य स्मरण शक्ति और बुद्धि बढ़ानेवाले, आयुष्य अर्थात् दीर्घायु प्रदान करनेवाले होते हैं। वृष्य, वयस्य, वर्चस्य, रक्षोघ्न और पुंसवन वीर्यवाले द्रव्य पौरुष बढ़ाकर सन्तान उत्पन्न करानेवाले हैं। सौभाग्यकर द्रव्य शरीरको ऐसा बनाते हैं जिसे देखकर उसपर रूपकी प्रीति हो। विमोक्षकरण वीर्यवाले द्रव्य बेडी या जंजीरको तोड़नेवाले हैं। उन्मादकर मानसिक स्थिति बिगाड़नेवाले और क्लैब्यकर नपुंसकता करनेवाले हैं। विद्वेषण द्वेष उत्पन्न करनेवाले, प्रवासन देशसे निकालनेवाले, आकर्षण खींचनेवाले, आन्तर्धानिक अदृश्य करनेवाले, पौष्टिक धनादिका लाभ करानेवाले, राजद्वारिक राजा शासकको वश करनेवाले हैं। ये अचिन्त्यवीर्य किन रसों-गुणों और

महाभूतोंका आश्रय कर रहते हैं इसका निर्णय नहीं हो सकता। आन्तर्धानिक, वशीकरण आदि कई वीर्य तो मन्त्रशक्तिसे चलनेवाले होते हैं। अवश्य ही उनका कर्मफल देखकर निर्णय किया जा सकता है। किन्तु हमारी परिभाषाका वीर्य तो शरीरावयवपर निपात और अधिवास तथा निपात और अधिवास दोनों द्वारा कर्मसे समझी जानेवाली द्रव्यस्थित वह उत्कृष्ट एवं चिन्त्यशक्ति है जिसके कारण द्रव्य अपना कार्य शरीरके विविध अवयवोंपर करता है। उस उद्देश्यकी पूर्ति ऊपरके वर्णनसे नहीं होती। इनमेंसे कुछ तो ऐसे हैं जो द्रव्यके कार्मुक अंश हैं। ऊपरके उदाहरण द्रव्यगत अंश होनेसे द्रव्य ही हैं। हमें वीर्य कहनेसे शक्ति अभीष्ट है। निमिका कहना है कि द्रव्यगत जल और पृथ्वीके भागसे अधोभाग, अग्नि और वायुसे ऊर्ध्वभाग, पृथ्वी-अग्नि और वायुसे उभयतोभाग, पृथ्वी और वायुसे सांग्राहिक, वायु और जलसे संशमन, पृथ्वी और अग्निसे दीपन, पृथ्वी और जलसे जीवनीय, वायु और अग्निसे प्राणघ्न तथा मदन, जलसे शीतीकरण, पृथ्वी और जलसे शोथकर, आकाश और वायुसे शोथघ्न, अग्निसे पाचन, वायु और अग्निसे दारण, पृथ्वी-जल और वायुसे रोपणवीर्य उत्पन्न होता है। किन्तु सोचनेकी बात है कि पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न इस प्रकारके कर्म वा कर्मलक्षण जो उत्पन्न होते हैं वह कार्मुक अंशके कारण अतएव द्रव्यगत भाग हैं, गुण अथवा शक्ति नहीं हैं अतएव बहुविध वीर्यका समर्थन हमारी परिभाषासे नहीं होता। अतएव बहुविध वीर्यकी बात हमें जँचती नहीं है।

वीर्य दो हैं—इतने सब वर्णनोंके पश्चात् हम इसी सिद्धान्तपर पहुँचते हैं कि वीर्य अनेक नहीं बल्कि दो ही हैं। शीतवीर्य और उष्णवीर्य। अष्टविध कहते हुए भी चरकको यह सिद्धान्त भी मान्य है ही—

> शीतोष्णमिति वीर्यन्तु क्रियते येन या क्रिया।
> नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया॥

सुश्रुत भी द्रव्यकर्मसूचक अनेक वीर्य गिनाते हुए भी यह तो कहते ही हैं कि—

> तच्च वीर्यं द्विविधम्, उष्णं शीतं च, अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः।

भदन्त नागार्जुनने 'कर्मलक्षणं वीर्यम्' कहकर जो पारिभाषिक द्रव्य गुणोंमें से कईका उल्लेख किया वह भी उष्णवीर्य और शीतवीर्यका खण्डन करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि उन उदाहरणोंमेंसे किसी को उष्णवीर्य और किसीको शीतवीर्यकी श्रेणीमें लिय ही जासकता है। अष्टविध वीर्यवादी भी उष्णवीर्य और शीतवीर्यका उल्लेख इन आठ वीर्योंके अन्तर्गत करते ही हैं। इसलिये अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयका मत हमें अधिक बलवान और स्वीकार करने योग्य दीखता है।

अष्टाङ्गसंग्रहकार कहते हैं—

नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ॥
गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः ।
परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः ॥

चरक और सुश्रुत इस सिद्धान्तका विरोध नहीं करते संसारके यावत्कर्म सूर्य और चन्द्र अर्थात् अग्नि और सोम शक्तिके द्वारा ही संचालित होते हैं। वीर्य परिभाषा वाली शक्ति इन्हीं दोनोंमें पायी जाती है।

क्योंकि संसारमें यद्यपि स्थावर-जंगम द्रव्य अनेक तरहके होते हैं, उनमें अनेक गुण भी होते हैं; तथापि संसारका ऐसा कोई व्यक्त या अव्यक्त द्रव्य नहीं जो अग्नि और सोमकी शक्तिके विना कुछ करनेमें समर्थ हो। जैसे सृष्टिके पदार्थ व्यक्त और अव्यक्त द्रव्योंसे भरे हुए हैं; उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ अग्नि अथवा सोमगुण सम्पन्न हैं। क्या द्रव्य और क्या उनके गुण सभी इन शक्तियोंके कायल हैं। इसलिये वीर्य दो ही हैं; उष्णवीर्य और शीतवीर्य। वीर्यका अर्थ है चिन्त्य शक्ति। रसद्वारा, विपाक द्वारा, प्रभाव द्वारा, गुरु-लघु गुणोंके द्वारा अथवा परत्व-अपरत्व आदि गुणोंके द्वारा जो तर्पण, आल्हादन, शमन आदि क्रिया घटित होती है, उस क्रियामें रसविपाकादि गुणोंकी क्रियाकारिणी शक्तिका नाम वीर्य है। इसीलिये सुश्रुतने कहा है 'येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्' संसारमें निर्वीर्य अर्थात् शक्तिहीन व्यक्ति अथवा वस्तु कुछ भी कार्य करनेमें समर्थ नहीं। वीर्यवान अर्थात् शक्तिसम्पन्नके द्वारा ही कार्य सम्पादित होते हैं। अतएव अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ रसादिकका द्रव्यशक्तिपर्यायरूप वीर्यशब्दसे ग्रहण होता है। सुश्रुतके 'येन' शब्द पर ध्यान देनेसे यह रहस्य भी खुलजाता है। जो क्रिया करे वह वीर्य नहीं; क्योंकि इससे तो द्रव्य भी वीर्य हो जायगा। क्योंकि दन्तीमूलसे विरेचन और मैनफलसे वमन होता है, यह भी कार्यही है। अतएव 'येन' शब्द कहता है कि वीर्य करणस्थानमें है और द्रव्य कर्तृस्थानमें है। द्रव्य जिस शक्तिके द्वारा कार्य करते हैं वही वीर्य है। फल या परिणाम कर्म है।

द्विविधमत समर्थन—चरक सूत्र अध्याय २६ में लिखा है कि 'रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।' रस-वीर्य और विपाक गुणोंका सामान्य शक्ति कार्य विचार एक श्रृंखलाका होना चाहिये। इसीलिये उसे चिन्त्यशक्ति कहा जाता है। द्रव्यगुणशास्त्रमें एक तो पारिभाषिक वीर्यके अर्थमें दूसरा शक्तिरूप वीर्यके अर्थमें वीर्य शब्दका ग्रहण हुआ है। जो लोग द्रव्यगत शक्तिको वीर्य मानते हैं वे शक्तिरूप-वीर्यवादी या बहुवीर्यवादी कहे जाते हैं। इसके पोषक सुश्रुत और नागार्जुन तथा निमि भी मानते हैं कि संसारमें सब कार्य शक्तिसेही होते हैं। कोई भी कार्य शक्तिके

बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः द्रव्यगत भूतप्रसादातिशयरूप जिस कार्यकारिणी शक्तिके द्वारा जीवित मानवशरीरके ऊपर संशोधन-संशमन आदि कार्य होते हैं वह शक्ति चाहे द्रव्य स्वभाव (द्रव्यकी पार्थिव-आप्य आदि पाञ्चभौतिक रचना) रूप हो, चाहे रसरूप या विपाकरूप हो, उत्कृष्ट शक्ति सम्पन्न शीतोष्णादि गुणरूप हो या द्रव्यगत सारभाग सत्त्वांशरूप हो उसे वीर्य कहते हैं। जीवित शरीर पर क्रिया करनेकी शक्तिसे सम्पन्न पांचभौतिक रचना विशेष (विशिष्ट संगठन) रस-गुण-विपाक या द्रव्यगत सत्त्वांश इन सब पर यह लक्षण लागू पड़ता है। हमारी समझमें इस परिभाषाके कारण वीर्य शब्द बहुत झमेलेमें पड़ जाता है। रस भी वीर्य बन जाता है विपाक भी वीर्य बन जाता है। यदि ऐसा ही हो तो रस और विपाकका अलग वर्णन ही क्यों हो। भूतप्रसादातिशयजन्यरूप कार्यकारिणी शक्ति द्रव्यगत अतएव द्रव्यका भाग है। द्रव्य भाग कार्मुक होगा कर्मरूपक होगा हमारा वीर्य करणरूपक है। द्रव्यका सत्त्वांश या सार भाग भी द्रव्य का भाग है। जैसे गुडूचीसत्त्व, मार्फिया (अफीम सत्त्व) ये गुडूची या अहिफेनसे भिन्न नहीं हैं। पाश्चात्त्योंकी ऐक्टिवप्रापर्टीको मानने जैसा है। हमें द्रव्यकी वह चिन्त्यशक्ति अभीष्ट है जो अग्नि शक्ति या सोम (जल) शक्तिसे प्रेरित हो किन्तु द्रव्यका कार्मुक अंश या भाग नहीं शक्तिरूप है। पारिभाषिक वीर्यवादी द्रव्यस्वभाव, रस, गुण और विपाकके अतिरिक्त उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न और प्रभूत-विशेष करनेवाले गुरु, लघु, मृदु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण इन आठ गुणोंको वीर्य मानना चाहते हैं। उनके मतमें ये आठ गुण समग्रगुणोंमें साररूप अर्थात् चिरस्थायी हैं। अन्य गुणोंसे उत्कृष्ट शक्तिवाले हैं। यह ठीक है कि २० गुणोंमें किसीमें कम और किसीमें अधिक शक्ति होती है; किन्तु यदि ऐसा होता तो गुण वर्णनके समय ही अल्पशक्ति सम्पन्न और प्रभूत शक्तिसपन्न दो भाग कर दिये जाते। इसके सिवाय कैसा ही भाग किया जाय फिर भी वे रहेंगे तो गुण ही। रस-गुण-विपाकसे भिन्न वीर्य का उल्लेख सूचित करता है कि यह वीर्य उन सबसे भिन्न होना चाहिये। फिर इन आठ वीर्य नामधारियोंका समावेश अग्निशक्ति या सोमशक्तिके अन्तर्गत हो ही जाता है। अतएव इनका कोई विरोध नहीं रह जाता। द्रव्योंका पांचभौतिक संगठन होते हुए भी पंचमहाभूतोंमें भी अग्नि और सोमका प्रभाव अधिक है। काल या ऋतुविभाग भी आग्नेय-आदान और सौम्य-विसर्ग भेदसे दो ही हैं। साधारण व्यवहारसे भी लोग यह वस्तु गरम है, यह ठण्ढी है, इस तरह उष्णवीर्य और शीतवीर्यकी कल्पना करते हैं। अतएव यही उचित प्रतीत होता है कि दो ही वीर्य उष्णवीर्य और शीतवीर्य माने जायें। 'क्रियते येन या क्रिया' इससे यही सूचित होता है कि इस क्रियामें जो साधनरूप शक्ति है वह वीर्य है, स्वयं क्रिया या कर्म वीर्य नहीं है। कर्तारूप द्रव्य भी वीर्य नहीं हो सकता। द्रव्यकी शक्ति तो

जल, वायु और कालके अधीन होती है। उष्णकालकी उत्पन्न ओषधियां प्रायः उष्णवीर्य होंगी और आदानकालकी ओषधियां सोमशक्तिसम्पन्न होंगी। अतएव द्रव्यप्रभाव तो स्वतन्त्र नहीं है। अग्निशक्ति और सोमशक्ति निर्धारित शक्ति है। अतएव वाग्भटका यही सिद्धान्त मान्य है—

उष्णशीतगुणोत्कर्षात् तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम्।

काश्यपसंहितामें भी दो वीर्य स्वीकार किये गये हैं—

केवलैः शीतवीर्यैश्च तथैवोष्णैश्च वीर्यतः।
शीतैरुष्णैश्च संपृक्तैर्द्रव्यैर्योगान् प्रयोजयेत्॥

वीर्यों की शक्ति

इनमेंसे उष्णवीर्य द्रव्य श्रम, तृषा, ग्लानि, स्वेद और दाह उत्पन्न करते हैं; परन्तु अपने उष्णवीर्य होनेके कारण क्रिया करनेमें बहुत शीघ्र समर्थ होते हैं। उनके द्वारा खाया हुआ अनाज बहुतशीघ्रतासे पच जाता है। उष्णवीर्य अपनी उष्णताके कारण वायुका नाश करते हैं और कफको सुखाते हैं। इसी तरह शीतवीर्य पदार्थ शरीरमें प्रसन्नता उत्पन्न करते हैं, जीवनी शक्तिको उत्पन्न करते हैं, स्रोतसोंका अवरोध और स्तम्भन करनेवाले तथा रक्त और पित्तको बढ़ाने, फैलाने और शुद्ध करनेवाले होते हैं। वाग्भट कहते हैं—

तत्रोष्णं भ्रमतृड्ग्लानिस्वेददाहाशुपाकिताः।
शमं च वातकफयोः करोति शिशिरं पुनः।
ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्तपित्तयोः॥

द्रव्यगुणसंग्रहमें लिखा है—

शीतं कफमारुतकृद्वीर्यं गुरुपित्तनाशनं बल्यम्
उष्णं कफ-वातहरं पित्तकरं लघ्ववृष्यं च।

उष्णवीर्ययुक्त द्रव्य शरीरपर दाह अर्थात् जलन करनेवाले होते हैं, अपनी पचनशक्ति द्वारा खाये हुए अन्नका पचन करते हैं, धातु और रसका पचन करते हैं, व्रणशोथको पकाते हैं। मूर्च्छा या बेहोशी लाते हैं, स्वेदन क्रिया सम्पादन करते अर्थात् पसीना लाते हैं, वमन कराते हैं। विरेचन क्रिया सम्पादन कराते हैं, विलयन-कर्म अर्थात् पिघलानेका काम करते हैं, वायु तथा कफका शमन करते हैं, भ्रम या चक्कर लाते हैं, तृषा और ग्लानि उत्पन्न करते हैं तथा पित्तको बढ़ाते हैं। लघुता-हलकापन लाते हैं और अवृष्य होते हैं अर्थात् शुक्रकी हानि करनेवाले होते हैं।

शीतवीर्ययुक्त द्रव्य शरीरपर प्रह्लादन करते अर्थात् उष्णतासे घबड़ाये हुएको सुखी करते हैं, सुखको रोकते हैं, स्थिर करते, प्रसन्नता बढ़ाते, सफाई करते,

क्लेदको सुखाते, मूर्च्छितको संज्ञा प्रदान करते हैं, स्तम्भन करते हैं, तथा रक्त और पित्तको शान्त करते हैं एवं कफ और वायुको बढ़ाते। इस प्रकार शीतवीर्य, गुरु और वृष्य है। अष्टाङ्गसंग्रहमें लिखा है—

तत्राग्नि-मारुतात्मके प्रायेणोर्ध्वभागिकं, तयोर्हि लाघवादूर्ध्वगतित्वाच्चाग्नेः प्लवनत्वाच्च मारुतस्य। भूम्युदकात्मकं प्रायेणाधोभागिकं तयोर्हि गौरवान्निम्नगत्वाच्च तोयस्य। व्यामिश्रात्मकमुभयतो भागम्। शमनं तु दोषविपरीतगुणमुक्तं प्राक्। तत्संकरे च यतो बाहुल्येन कार्यकर्तृत्वं भवति यद्देवाधिकं तदेव तत्कार्यकरमितिव्यपदेशः। तथाऽनिलात्मकं ग्राहि। अनलात्मकं दीपन-पाचनम्। उभयात्मकं लेखनम्। भूम्युदकात्मकं बृंहणम्॥ (अ० सं० सू० अ० १७)।

अर्थात् ऊर्ध्वभागिक वीर्यवाले द्रव्योंकी अधिकतासे वमन होता है; क्योंकि उसमें अग्नि और वायु आश्रित कर रहता है। अधोभागिक द्रव्य पृथ्वी और जलकी अधिकतासे उत्पन्न होते हैं। उभयतो भाग द्रव्य अग्नि-वायु-पृथ्वी और जलकी अधिकतावाले होते हैं। वातादिशमनक द्रव्य अपने-अपने दोषसे विपरीत गुणवाले होते हैं। ग्राहि द्रव्यमें वातकी अधिकता रहती है। दीपन और पाचन द्रव्य अग्निगुणोत्कर्ष होते हैं। लेखन द्रव्य वायु और अग्निकी अधिकतावाले तथा बृंहण द्रव्य पृथ्वी और जलके गुणोंकी अधिकतावाले होते हैं।

अधिवास विवेचन—ऊपर वीर्यकी परिभाषामें अधिवास शब्दका उल्लेख हुआ है। चरक सूत्रस्थान अध्याय २६ में लिखा है।

वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते।

अर्थात् द्रव्यगत वीर्यका ज्ञान द्रव्यका शरीरके साथ निपात या सम्बन्ध होनेके समयसे लेकर वह जब तक शरीरके भीतर रहता है तब तक शरीरपर होनेवाली उसकी क्रियाओंके द्वारा होता है। कुछ उपयुज्यमान द्रव्योंके वीर्योंका ज्ञान निपातसे अर्थात् जिह्वा या त्वगिन्द्रियके साथ उनके संयोगमात्रसे होता है। जैसे काली मिर्च आदिके तीक्ष्णत्व आदिका ज्ञान निपातसे होता है। कुछ उपयुज्यमान द्रव्योंके वीर्योंका ज्ञान अधिवाससे अर्थात् जब तक वे शरीरमें रहें तब तक शरीरपर होनेवाली उनकी क्रियाओंसे होता है। जैसे आनूपमांसके उष्णत्वका ज्ञान जब तक वह शरीरमें रहता है तब तक शरीरपर होनेवाली उसकी क्रियाओंसे अनुमान किया जाता है। कुछ द्रव्योंके वीर्योंका ज्ञान निपात और अधिवासदोनोंसे होता है। जैसे काली मिर्च आदिके उष्णत्वका ज्ञान निपात और अधिवास दोनोंसे होता है। वीर्यका ज्ञान निपातके बाद और विपाकके पूर्व होता है। मधुरादि रसोंका

प्रत्यक्ष जिह्वेन्द्रियसे होता है। विपाक नित्य परोक्ष है। विपाकका ज्ञान उसका कार्य देखकर अनुमानसे किया जाता है। वीर्यका ज्ञान कुछ अनुमानसे जैसे सैन्धवगत शैत्यका और आनूपमांसगत उष्णताका ज्ञान होता है। वीर्यका कुछ ज्ञान प्रत्यक्षसे होता है जैसे राईकी तीक्ष्णताका ज्ञान घ्राणेन्द्रियसे और पिच्छिल-विशद-स्निग्ध-रूक्षका ज्ञान नेत्र और स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् त्वचासे होता है। पारिभाषिक वीर्यका लक्षण इतना पर्याप्त है।

विपाक-परिज्ञान

परिभाषा--ऊपर इस बातका वर्णन किया गया है कि हम जो आहार करते हैं उसका पहले रस बनता है और वह रस अपने वीर्यके द्वारा जठराग्नि और पित्ताशय की गर्मी की सहायता पाकर फिर पचता और उससे एक नया रस तैयार होता है। जैसे किसी सुगन्धित पदार्थका अर्क निकाला जाय तो उस अर्क का साररूप उसका इत्र निकलता है, उसी तरह रसका साररूप जो एक रस बनता है उसे विपाक कहते हैं। अर्थात जठराग्निके संयोगसे खाये हुए आहारके रसका परिपाक होकर जो रसान्तर होता है अर्थात् एक विशेष रस तैयार होता है, उस रसोंके अन्तिम परिणामको विपाक कहते हैं। वाग्भट कहते हैं—

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥

इस प्रकार पक्वाहारका जो प्रसादपाक नामक रस है वह धातुरूप है। पक्वाहारके किट्टपाक रूप भागमें मूत्र-पुरीष-कफ-पित्त और वायु हैं। इसके बाद विपाकका स्वरूप अवस्थापाककी अपेक्षा जो विशिष्ट पाक है वह है छः रसोंका जो मुख-आमाशय-अग्न्याशय और जठराशयमें पाक होकर रस निष्पत्ति होती है वह है अवस्थापाक और रसोंके अन्तिम परिणामरूप मधुर-अम्ल-कटुविशिष्ट रस विपाक रस है।

पाकभेद— ऊपरके वर्णनसे यह मालूम पड़ता है कि आहार और औषध द्रव्यके पाकके दो भेद हैं एक साधारण पाक और दूसरा विपाक। पहले साधारण पाकका वर्णन कर देना अच्छा होगा। इस प्रकारके पाकभेदको चरकने अवस्थापाक और निष्ठापाकका नाम दिया है। अवस्थापाक आहार द्रव्यका साधारण पाक है और निष्ठापाक ही विपाक है।

अवस्थापाक— जीवधारियोंके शरीरकी रक्षा और वृद्धि बराबर आहारके द्वारा होती रहती है। इसे भोजनका समीकरण कहते हैं। मनुष्य जो आहार करता है

उससे पाचनकालमें रासायनिक क्रियाओं द्वारा छोटे-छोटे कण विभाजित होते हैं। यह द्रव रसके रूपमें रहता है जिसे शरीर शोषणकर ग्रहण करता है। इसी रससे रक्त-मांस-मेद-मज्जा और शुक्रधातु बनती हैं। इसे ही समीकरण क्रिया समझ लीजिये और इसी क्रमसे शारीरिक कोषोंकी वृद्धि होकर पुष्टि होती है। मनुष्य को जीवन-व्यापार चलानेके लिये विविध पारिश्रमिक व्यवसाय करना पड़ता है, जिससे उसके शरीरकी छीजन होती है। आहार ही उस छीजनकी पूर्ति करता है। बालकपनमें बच्चा दूध पीता है और फिर ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों तरह-तरहके षड्रस आहारके व्यञ्जनादि खाकर अपनी तृप्ति करता है। मनुष्य जीभसे पहले रस ग्रहण करता है, कौर मुखमें लेता है, फिर दांतोंसे आहारको कुचलता है, उस समय मुखकी लालाग्रन्थियोंसे एक इस प्रकारका पाचक रस निकलता है जो थूकके साथ कौरमें मिल जाता है। फिर १५ इञ्च लम्बी अन्न-नलिकाद्वारा आहार द्रव्य आमाशयमें पहुँचता है। आमाशयमें आहार द्रव्यके पहुँचते ही वहां भी एक प्रकारके रसका फौवारा सा छूटता है जिसके सहारे आमाशयमें आहार द्रव्यका मन्थन होता है। खाली पेट आमाशयकी थैली सिकुड़ी रहती है, किन्तु आहार द्रव्य पहुँचने पर उसका आकार बढ़ जाता है। आमाशयकी दीवारोंमें असंख्य ग्रन्थियां होती हैं; इन्हींसे आमाशयका पाचक रस बनता है। ग्रन्थियां कई प्रकारकी होती हैं, उन भिन्न-भिन्न ग्रन्थियोंके रससे भिन्न-भिन्न भाग बनते हैं। आमाशयके सिरे पर एक छिद्र होता है, उसमें से आमाशयका मथा हुआ रस १२ अंगुल दीर्घ मुड़े हुए पक्वाशय या ग्रहणीमें जाता है। इसमें भी पांच-छः इञ्च दीर्घ अग्न्याशय नामकी ग्रन्थि होती है। इस ग्रन्थिका शिरोभाग पक्वाशयके चक्रमें रहता है। इसकी बनावट शहतूतकी सी होती है। उसमें शहतूतके से दाने भी उभड़े रहते हैं। यह ग्रन्थि भी एक प्रकारका पाचक रस बनाती है जो एक नलिका द्वारा पक्वाशयमें पहुँचता है। ग्रन्थिके भिन्न-भिन्न भागोंसे पतली-पतली और भी नलिकाएं उसमें आकर मिलती हैं। पक्वाशयके बाद आहार द्रव छोटी आँतमें पहुँचता है। छोटी आँत २२ फुट लम्बी और डेढ़ इञ्च व्यासकी रहती है। इसमें आंतके श्लैष्मिक कलाके अंकुर उठे रहते हैं। छोटी आंत सांपकी गेडुलीके समान एक पर्तके ऊपर दूसरी चढ़ी हुई रखी रहती है। छोटी आंतकी दीवारोंमें प्रत्येक समय गति होती रहती है। यहां की ग्रन्थियां भी आन्त्रिक रस बनाया करती हैं। इसके एक ऊपरी सिरेसे पांच फुट लम्बी मोटी बड़ी आंत जुड़ी रहती है। यह ऊपर उठकर यकृतके नीचेसे बायीं ओर मुड़ प्लीहा तक पहुँच नीचे गुदाकी ओर मुड़ जाती है। इसका वस्तिगत भाग २२ इञ्च के लगभग होता है और डेढ़-दो इञ्चका भाग गुदा बनाता है। गुदाके ऊपरका ५ इञ्चका भाग मलाशय कहलाता है। इस पचनकार्यमें यकृतसे भी बड़ी सहायता मिलती है। यकृतसे एक नली द्वारा पित्त

पित्ताशयमें एकत्रित होता रहता है। दाहिनी ओरकी नवीं पर्शुकाकी उपास्थिसे पित्ताशय ढका रहता है। इस पित्ताशयसे एक नली द्वारा पित्त पक्वाशय तक पहुँचता है।

आधुनिक विज्ञानके मतानुसार मनुष्य-शरीर हैड्रोजन, आक्सीजन, कार्बन, नाइट्रोजन, गन्धक, फासफरस, कैलशियम, लौह, पोटासियम आदिके योगसे बना है। ये द्रव्य भी मनुष्यको आहारीय द्रव्यों द्वारा प्राप्त होते हैं। अण्डा, मांस, दूध, दही ये प्रोटीन या मांसघटक द्रव्य हैं। घी, मक्खन, तेल स्नेहांश हैं। श्वेतसार, मैदा, गेहूंका आटा, चावल आदि कार्बोज या पिष्टमय पदार्थ हैं। इन वस्तुओंके ग्रहणसे कार्बन, हैड्रोजन, नाइट्रोजन, आक्सीजन, गन्धक, फासफरस आदिकी प्राप्ति हो जाती है क्योंकि इनके भिन्न-भिन्न संयोगोंसे ही इनका संगठन होता है। मांस और द्विदलधान्यमें नाइट्रोजन होता है। मुखग्रन्थियोंसे थूक और लार बनती है। वह एक रासायनिक वस्तु है और इसके द्वारा आहार पर विशेष क्रिया होती है। इस मधुरलाला (टायलिन Ptyalin) में पिष्टान्न और कार्बोजको दो वस्तुओंमें विभाजित करनेकी शक्ति है। इसके द्वारा आहार द्रव्यमें मधुरीभाव होकर शर्करा (माल्टोज और डेक्सट्रिन) में उसकी परिणति होती है। इसके द्वारा मुलका कौर गीला होकर निगलने योग्य हो जाता है। मुखगत इन ६ ग्रन्थियोंका सम्बन्ध मस्तिष्कसे रहता है। मस्तिष्कगत नाड़ियोंकी उत्तेजनासे मुखमें लार बनने लगती है। आमाशयके रसमें अम्लता रहती है परन्तु उसका अम्लदोष थूकके क्षारसे दर्पहीन हो जाता है। आमाशयरसको आधुनिक वैज्ञानिक गैस्टिक जूस कहते हैं, अग्न्याशयरसमें भी क्षार रहता है। आमाशयके रसमें पेपसिन और हैड्रोक्लोरिक का भाग रहता है। हैड्रोक्लोरिक एसिड अम्लकी सहायतासे पेपसिन पचन क्रिया करनेमें समर्थ होता है। मांसघटक द्रव्योंको पचानेमें आमाशयकी रस क्रिया विशेषरूपसे होती है जिससे मांसघटक द्रव्योंके अणु फूट कर छोटे हो जाते हैं। स्निग्धांश भी द्रवस्नेहके रूपमें हो जाते हैं। आमाशय रससे (१) आहार द्रव्यों द्वारा यदि रोगोत्पादक जीवाणु पहुँच जायँ तो अम्लताके कारण नष्ट हो जाते हैं। (२) आमाशयरस द्वारा मधुरांश द्रव्य शक्करके रूपमें बन जाते हैं। (३) दुग्धांश फटकर दही सा हो जाता है। उसमें जो रेनिनका अंश होता है उसके द्वारा यह क्रिया होती है। (४) आमाशय रससे आहारके स्निग्धांश वसाम्ल और ग्लिसरीनके रूपमें हो जाते हैं। और (५) आमाशयरसके पेपसिन और हैड्रोक्लोरिकसे मांसघटक द्रव्योंका पाचन होता है। इस प्रकार श्वेतसार या पिष्टान्नका पाचन मुखकी लारसे हुआ। मांसघटक द्रव्योंपर आमाशयके रसने काम किया। पाचनपर मस्तिष्कका भी प्रभाव पड़ता है। यदि आहार द्रव्य आंखोंसे देखकर दिया जाय तो आमाशयरस अधिक बनता है और यदि बिना देखे या समझे आहार द्रव्य आमाशयमें पहुँचा दिया

जाय तो आमाशय रस कम बनता है। आहार द्रव्य चबानेसे भी आमाशयरस अधिक बनता है। जब आमाशयमें आहारांश पच चुकता है तब ग्रहणीका द्वार खुलता है। पक्वाशयमें भी पचन क्रियाका काम आरम्भ होता है। मुखमें जो मधुरीकरण हुआ था, उसकी क्रिया पक्वाशयमें पूरी होती है। पक्वाशयमें जिस अग्न्याशय या अग्निरस द्वारा क्रिया होती है वह अधिक तीव्र होता है। यहां श्वेत-सारका शर्करापिष्ट ग्लिसरीनके समान बनता, यदि पिष्टमयपदार्थ कच्चा खाया जाय तो उस पर क्षारका विशेष कार्य नहीं हो पाता, परन्तु पक्वाशयमें उसे भी पचानेका काम होता है। इस क्रियाको आधुनिक विज्ञानमें ष्ययापलेज कहते हैं। मांसघटक द्रव्योंको भी अग्न्याशय तीव्रतासे पचाकर बारीक कर देता है। जिस प्रकार मुखमें चर्वणक्रिया करनेसे आमाशयमें रस बनता है, उसी प्रकार आमाशयकी पाचन क्रियासे ग्रहणीमें भी उत्तेजना आती है। जब आहाररस छोटी आंतमें पहुँचता है तब वहां आन्त्ररस (Succus entricus) बनता है। अग्न्याशय रसके सहयोगसे इसकी क्रिया प्रबलतासे होती है। आन्त्रिकरससे अग्न्याशय रसको भी बल मिलता है। पाचन क्रिया एक गूढ रहस्यमय कर्म है। पाश्चात्य पण्डितों का कथन है कि आमाशयके अम्लके कारण और अग्न्याशयके क्षारके कारण वहां तो जीवाणु नहीं रह पाते परन्तु आंतोंमें सूक्ष्मजीवाणु रहते हैं। इन जीवाणुओंके द्वारा पाचकरसके समान एक रस तैयार होता है। कोई जीवाणु श्वेत क्षारसे शर्करा बनाते हैं। एक प्रकारका जीवाणु लेक्टिक ऐसिड तैयार करता है। दूधको दहीमें परिणत करनेवाला यही जीवाणु होता है। शरीरको हानि पहुँचानेवाले अन्य जीवाणुओंको भी यह घटा देता है, बढ़ने नहीं देता। छोटी और बड़ी आंतमें जब विषैले अणुओंका संग्रह अधिक होता है और रक्त विषमय बन जाता है तब बुढ़ापा शीघ्रतासे आती है। दहीके प्रयोगसे वे हानिकर जीवाणु नष्ट होते हैं। भोजनके उपर्युक्त रसका शोषण छोटी आँत द्वारा होता है। आहाररसके अणु जितने बारीक हो सकेंगे आहाररसका शोषण उतना ही अच्छा हो सकेगा। आंतके अंकुरों (Villi) में आकुञ्चन क्रिया द्वारा तद्गत धमनी, सिरा और रसवाहिनी नलिकाओंसे यह शोषण क्रिया होती है। मांसघटक और पिष्टमय घटकका शोषण कर ये अंकुर रसको रक्त बनानेके लिये भेज देते हैं। स्नेहांशका शोषण रसवाहिनी-नलिकाएं करती हैं। आंतकी व्यापन और अभिसरण (Diffusion & osmosis) द्वारा रक्तमें लवणका शोषण होता है। मुख और आमाशयकी कलाएं मोटी होती हैं, अतएव उनके द्वारा रसशोषणका कार्य नहीं होता। आमाशयके द्वारा कुछ जल और घुली हुई शर्कराका शोषण होता है। इस प्रकार मांसघटक और पिष्टपदार्थोंका शोषण करनेवाली नलिकाएं अंकुरोंमें अलग रहती हैं, स्नेह द्रव्योंका आकर्षण दूसरी नलिकाओं द्वारा होता है। आकर्षणके समय स्नेहवाहिनियोंका रंग सफेद दूधके समान हो जाता है।

मांसवटक, पिष्टवटक और स्नेहांशका जो मुखमें मधुरीभाव होता है वह अग्न्याशय रसके द्वारा घुलारूप (माल्टोज) बनता है और रक्तमें वह द्राक्षा शर्करा (ग्लूकोज) के रूप में मिलता है। इस मधुरांशका संग्रह यकृतमें पचन होकर होता है। स्नेहांश स्नेहन द्रव्योंके द्वारा और पिष्टमय पदार्थोंके द्वारा भी तैयार होता है। रसशोषणके पश्चात् बचा हुआ द्रवांश वृक्कोंकी और मूत्ररूपमें और गाढ़ा भाग बड़ी आंतद्वारा मलरूपमें वायुकी क्रिया द्वारा बाहर विसर्जित हो जाता है। यही अवस्थाकी पाक स्थिति है। इसे चरकाचार्यने संक्षेपमें यों लिखा है—

> अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति ।
> तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥
> समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु ।
> काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥
> एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः ।
> पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥
> अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
> मधुरात्प्राक् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते ॥
> परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः ।
> आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥
> पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
> परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥ (च. चि. अ. १५)

अर्थात् बनाये हुए अन्नको ग्रहण और आकर्षण अर्थात् आदान क्रिया करने वाला प्राणवायु कोष्ठमें ले जाता है। वहां क्लेदक कफके द्रवसे उसका संघात-बँधा हुआ कठिन भाव नष्ट होता है और उसका द्रवरूप बन जाता है। क्लेदककफके स्नेहांशसे वह मृदु-नरम हो जाता है। इसके पश्चात् समान वायुद्वारा धौंकेनकी क्रिया (संधुक्षित) सम्पन्न होनेसे प्रेरित और अवकम्पित जठराग्नि (पाचकपित्त और शरीरोष्मा) उस आहार कालमें सममात्रामें खाये हुए अन्नको आयुष्यकी वृद्धिके लिये अच्छी तरह पकाता है। इस प्रकार खाये हुए छहों रसोंवाले अन्नसे मुखमें चर्वण क्रिया द्वारा प्रथम पाकमें—अर्थात् पाकारम्भमें जो मधुररस उत्पन्न होता है उद्रिक्त होता है, उसमें फेनके सदृश जलरूपकफ उत्पन्न होता है। इसके बाद आमाशयमें पाक होते समय उसमें आमाशयके अम्लरसकी क्रिया होती है। आमाशयकी क्रिया-सम्पादनके पश्चात् जब वह मथा हुआ अन्न पतला होकर ग्रहणीमें जाता है तब पाक-क्रियाके द्वारा पच्यमानावस्था या अर्धपक्वावस्थामें

उसे विदग्धावस्था प्राप्त होती है। इस क्रियासे उद्भूत या उद्रिक्त अम्ल रससे मलभूत स्वच्छ पित्त की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् छोटी आंतके पक्काशयमें आहारके पहुंचने पर जठराग्नि द्वारा शोषित पके हुए अन्नका पिण्डला बनता है। उस पिण्डीभावको प्राप्त आहारसे उद्भूत या उद्रिक्त कटुरससे मलरूप वात उत्पन्न होता है। इस प्रकार अवस्थापाकमें खाये हुए अन्नकी प्रथमावस्थामें जो मधुरभाव की उत्पत्ति होती है उससे स्थूल या मलरूप कफकी उत्पत्ति होती है। आमाशयकी अम्लक्रियाके पश्चात् अग्न्याशयकी पच्यमान अवस्थामें उससे उत्पन्न अम्लभावसे मलरूप पित्त उत्पन्न होता है। फिर जठराशयकी पक्कावस्थामें उत्पन्न कटुभावसे मलरूप वातकी उत्पत्ति होती है। इस अवस्थापाकमें मुख–कण्ठ–आमाशय और ग्रहणी तथा अन्त्रमें उन–उन स्थानोंमें स्थित बोधक कफ, क्लेदक कफ, समान वायु और जठराग्निरूपी पाचक पित्तके द्वारा अन्नका परिपाक होता है। आमावस्था, पच्यमानावस्था (विदग्धावस्था) और पक्काशयमें हुई पक्कावस्थामें छः रसवाले आहारके क्रमशः मधु, अम्ल और कटुरस उद्रिक्त होते हैं। आमावस्थामें उद्भूत मधुर रस, पच्यमानावस्थामें उद्भूत अम्लरस और परिपक्कावस्थामें उद्भूत कटुरसकी अधिकतासे क्रमसे मलरूप कफ, मलरूप पित्त और मलरूप वायुकी उत्पत्ति होती है। मुँहमें चर्वणके समय जो मधुरता आती है, उसका ज्ञान हो सकता है। अम्ल रसका ज्ञान खट्टी डकार या अन्ननलिकाकी जलनसे अनुमानित होता है, कटुरसका ज्ञान विदग्ध धुएँकी डकार और जलनसे हो सकता है। इसके वमनमें मधुर, अम्ल और कटुरसयुक्त द्रव्य निकलते समय भी इनका अनुभव होता है। अवस्थापाकमें भुक्त द्रव्योंका रस चाहे कोई भी हो परन्तु स्थान प्रभाव और अवस्थावश उन–उन स्थानों में मधुर, अम्ल और कटुरस उद्रिक्त होते हैं। इस अवस्थापाककी तीनों क्रियाओंके पश्चात् अन्तमें जब रसका शोषणरूप विवेक और मलका पृथक्करणरूप विवेक होता है तब आद्यरस धातुमें जो रस विशेषकी उत्पत्ति होती है वह निष्ठापाक या विपाक की क्रिया कहलाती है। इस वर्णनमें ६ रसोंके तीन ही विपाक होनेके रहस्यका भी उद्घाटन हो जाता है।

निष्ठापाक या विपाक—

अवस्थापाक का सम्बन्ध मुखसे लेकर अन्ननलिका, आमाशय, पक्काशय, जठराशय तथा क्षुद्र और बृहदन्त्रसे है। वह डकार, वमन या आंतोंकी क्रियाके परिदर्शनसे समझी जा सकती है, विपाकावस्थाका रहस्य बहुत गूढ है। सप्तधातुओंके निर्माणकालके समय यह क्रिया सम्पन्न होती है। निष्ठापाकमें रस और मलके विवेक या पृथक्करणके समय आद्यरस धातुमें उद्रेक होनेसे जो मधुर रसका उद्रेक होता है उससे धातुरूप कफकी उत्पत्ति होती है। रक्तनिर्माण–क्रियाके समय उद्रिक्त अम्ल-

रससे धातुरूप पित्तकी और कटुरससे धातुरूप वातकी उत्पत्ति होती है, जिनसे शरीर का पोषण होता है। धातुपाकके समय भी रसधातुसे किट्ट या मलरूप उपधातुओंकी उत्पत्ति होती है जो नाक, कान, आंख आदिके मलरूप होते हैं। यही नहीं जिस प्रकार किट्ट अन्नरससे मल-मूत्रकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार रसधातुसे किट्टरूप कफकी और रक्तधातुसे किट्टरूप पित्तकी उत्पत्ति कही गयी है।

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः । पित्तम् ॥

मुखकी चर्वणक्रियासे लालाग्रन्थियोंके रसकी सहायतासे मुखका कौर मधुर होता है, ढीला होता है और रसमिश्रणके कारण उसका वजन भी कुछ बढ़ जाता है। परिपाक-क्रियामें प्रधान सहायता पाचकाम्लरसकी रहती है। २४ घण्टेमें पाकस्थलीसे ३ से लेकर ४ सेर तक पाचकाम्ल रस निकलता है। इस पाचकरसमें लवणाम्ल (हैड्रोक्लोरिक एसिड) १०० में ०·२ भाग रहता है। इसके सिवाय दो किण्वपदार्थ (Enzyme) रहते हैं। जिन्होंको आधुनिक पण्डित पेपसिन और रेनिन कहते हैं। हैड्रोक्लोरिक एसिडसे आहारस्थ हानिकर बीजाणु नष्ट हो जाते हैं। यह अम्ल पेपसिनकी भी सहायता करता है। पेपसिन मांसघटकद्रव्यों को पतला कर पेपटोनके रूपमें परिणत करता है। साधारणतः खाद्य द्रव्य ३ या ४ घण्टेमें परिपाक को प्राप्त होता है। गुरुपाक द्रव्योंके पचनेमें ६-७ घण्टे भी लग जाते हैं। किन्तु धातुनिर्माणक्रियाका समझना सहज नहीं है। एकतो इस क्रियाके सम्पन्न होनेमें कमसे कम तीन सप्ताह लगते हैं, दूसरे इसका निर्धारित स्थान अल्प नहीं है, शरीरव्यापी है। मालूम पड़ता है विपाक रस विशेष कर रक्तमें रहता है और रक्तसंचालन क्रिया द्वारा अपना प्रभाव शरीरव्यापी बनाता रहता है। यह भी हो सकता है कि क्षुद्रान्त्र स्थित रसवह स्रोत अथवा पयस्विनी प्रणालिकासे ही विपाक क्रिया का आरम्भ होता हो। रसकुल्यावामाही ग्रीवामूलसे आकर अक्षाधरासिरा (Left sub-clavian vein) से स्नेहधारा निकलकर अन्तमें रक्तसे मिलती है। पिष्ट और श्वेतसार द्रव्य द्राक्षाशर्करामें परिणत हो मधुर विपाक का कारण होता होगा। मछली मांस, खटाई आदि पदार्थ अम्ल (एमिनो एसिड) में परिणत हो अम्ल विपाक का कारण बनते होंगे। कटु-तिक्त-कषाय द्रव्यका परिणत रस कटु विपाकी होकर रक्तमें मिलता होगा। प्लीहासे रक्त आकर जब प्रतिहारिणी महासिरा (Portal vein) में रक्तपरिपाक होकर यकृतमें प्रवाहित होते समय रक्त की परीक्षा करने पर विपाक रसका परिचय प्राप्त हो सकता है। क्योंकि जब शोणितधारा यकृतके भीतरसे होकर हृत्पिण्डकी ओर जाती है उस समय यकृतकी क्रियाके प्रभावसे रक्तमें विशेष परिवर्तन होता है। यकृतमें ही शरीर-पोषणोपयोगी रस निकालने और रक्तसे अनावश्यक अंश निकाल कर अपनेमें संचित करनेका काम

होता है। यकृत रक्तधमनियोंसे परिवेष्टित है ही। इस विपाक क्रिया का कारखाना यकृतकन्द्रिकामें होता होगा। क्योंकि यकृतकन्द्रिका का निर्माण छोटे छोटे यकृत-कोषाणुओं (लीवर सेल्स) से होता है। स्मरण रखना चाहिये कि प्रतिहारिणी महासिरा अन्नवहानलिकाके निम्न भागसे जो अनेक प्रकारके उपकरण संग्रह कर लाती है उनमें यकृत-कोषाणुओं द्वारा रासायनिक प्रक्रियासे रूपान्तर प्राप्त होता है जो शरीर-पोषणके लिये उपयोगी होता है। मांस और द्विदलधान्यों का रस पेपटोन और एमिनो अम्लमें परिणत हो प्रतिहारिणी महासिराके द्वारा यकृतमें पहुंचता है और यहां उसका अम्ल विपाक तैयार हो कर कुछ तो शोषित होता है और कुछ सूक्ष्म रक्ताधारोंकी सहायतासे शारीरिक तन्तुओं को गठित करता है, सुधारता है और अवशिष्टांश मूत्रक्षार (यूरिया) बनकर बृक्कों द्वारा मूत्राशयसे मूत्र द्वारा निकल जाता है। गेहूं, चावल आदि श्वेतसार और चीनी, गुड़ आदि शर्कराजातीय आहारांश तथा आलू-शकरकन्द-अरुई आदि कन्दजातीय आहारांश का रूपान्तर द्राक्षाशर्करा या ग्लूकोजमें होता है। यह अंश अंकुरिका और उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म धमनियों की सहायतासे देहमें शोषित होता है। यही मधुर रस प्रतिहारिणी महासिरा यकृतके विचित्र कारखानेमें लाती है। प्रतिहारिणी महासिराके रक्तप्रवाहसे द्राक्षाशर्करा का परिमाण स्वभावतः कुछ बढ जाता है। यहां मधुरांशकी विपाक क्रिया आरम्भ होती है और कुछ शोणितशर्कराका शोषण होकर उस बढ़े परिमाणमें कमी आ जाती है। यकृत-कोषाणुओं का कार्य इतना अद्भुत होता है कि मधुर विपाक तैयार होनेके पश्चात् रक्तके अतिरिक्त शोणितभारको कम करनेके लिये शर्करांशका एक अद्रवणीय ग्लाइकोजन् (Glycogen) नामक सजीव श्वेतसार तैयार कर यकृत-कोषाणु अपनेमें खींच लेते हैं। शारीरिक भविष्यव्यापारके लिये इसका संग्रह यकृतमें बना रहता है। शारीरिक परिश्रमसे, पेशियोंके अधिक सञ्चालनसे, पेशियों और रक्तमें मधुरांशकी कमी होने पर इसी संचित अद्रवशर्करासे पूर्तिकी जाती है। शरीरके किसी भागमें मधुरांशकी आवश्यकता होने पर यकृत-कोषाणु उस शर्कराको द्रवित कर रक्त-प्रवाहमें मिला देते हैं। इस शर्करांशमें प्राणवायु की क्रिया जारी होकर उसका दहन होता है जिससे हमारे शरीरमें सामर्थ्य उष्णता, तापकी रचा होती रहती है। मेद और पेशियोंमें भी इसका अंश विशेष रहता है अतएव उपवासादिके समय इनसे भी मांसघटक द्रव्यकी पूर्ति होती है। जब यकृत भण्डारमें ऐसी शर्करा जमा कर रखने की गुंजाइश नहीं रहती तब मधुमेहके रूपमें वह बाहर होने लगती है।

प्रतिहारिणी महासिराद्वारा जो रस यकृतमें आता है, उसमें कटु-तिक्त-कषाय रस विशिष्ट द्रव्योंके रसपर पित्त और वायुकी क्रिया होनेसे कटुविपाक तैयार होता है। जब रक्तके लालकण तीन-चार सप्ताह तक लगातार काम करनेके पश्चात् मलिन

होकर प्लीहामें पहुंचते हैं तब रंजक पित्त रक्तमें रंग लाकर उन्हें सतेज करता है। मल और मूत्रमें पीलापन भी इस अतिरिक्त पित्तसे होता है। रस-रक्तका लवण भाग पित्तसे अलग होकर मधुरांशके प्रभावमें आ जाता है और लवण का विपाक मधुर विपाकके समान क्रिया-कर्म करनेवाला हो जाता है। चावलका मधुरांश किण्वभाग से प्रभावित हो आसुत हो अम्लविपाकी बन जाता है। यकृत का यह कार्य रात-दिन चलता रहता है। जिस समय खाली पेट रहता है, भूख लगी रहती है, उस समय कुछ धीमा पड़ जाता है किन्तु आहार पहुंचते ही कामकी तड़ातड़ी पड़ जाती है। यकृतका काम इस प्रकार रात-दिन चलता रहे इसके लिये यह आवश्यक है कि स्वस्थ रहे, दृढ़ रहे। यह तभी हो सकता है जब यकृतमें शुद्ध रक्तकी पूर्ति भर-पूर रहे। यकृतसे रक्तका संचालन याकृतीसिरा (Hepatic vein) के द्वारा शरीर भरमें यकृतसे अधरामहासिरासे मिलकर होता रहता है। यह एक प्रश्न है कि उष्ण-वीर्य लवण मधुरविपाकी किस तरह होता है। हमारे शरीरकी रचनामें लवणका भी भाग रहता है। हमारे खाद्य द्रव्योंमें दूध, शाक सब्जी और फलोंमें लवणका कुछ अंश रहता है। सोडियम क्लोराइड, पोटासियम, लौहजखनिज लवणकी हमारे शरीरको आवश्यकता होती है। सोडियम क्लोराइड साधारण नमकके द्वारा, पोटा-सियम शाकसब्जी और फलों द्वारा मिल जाता है। रक्तको शुद्ध रखनेके लिये शरीर में लवणांश पहुंचाना आवश्यक है। अस्थिसंगठन और पेशी तथा नाड़ियोंको सतेज रखनेके लिये भी चूर्ण-चूना घटित कैलशियम आवश्यक होता है। दांतों के लिये फासफेट और रक्तकी लालिमा बनाये रखनेके लिये लौहजलवण अपेक्षित होता है। हमारे रक्तमें भी लवण का अंश (सोडियम क्लोराइडके रूपमें) रहता है। शरीरमें लवणांशकी पूर्तिके लिये हमें नित्य ७ रत्तीसे लेकर १० रत्तीतक नमकके सेवन की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार खाया हुआ नमक जब आहार रसके साथ प्रति-हारिणी सिरासे यकृतमें जाता है तब उसके विपाककी क्रिया आरम्भ होती है। स्मरण रखना चाहिये कि हमे प्रतिदिन १० रत्ती से अधिक लवण की आवश्यकता नहीं है। हमारे आहारके साथ नमक का जो हिस्सा पक्वाशयके बाद जठराशयमें पहुंचता है उसमेंसे कुछ भाग मुखमें लाला स्राव करानेमें कुछ आमाशयके तरल भागमें पाचन और क्लेदन कर्मकी सहायताके लिये खर्च हो जाता है, कुछ अनुलोमन, दीपन और पाचन क्रियाको प्रभावित करनेमें लगजाता है। छोटी आंतमें शोषण क्रियामें सहायतासे कुछ भाग खर्च हो जाता है। स्मरण रखने की बात है कि हमारे रक्तमें भी लवण और क्षारका भाग है, वह स्रोतसोंका अवरोध खोलनेमें सहायक होता है। इस प्रकार खर्च होते-होते जो लवणांश बहता है। उसका कुछ भाग मूत्रके द्वारा और कुछ पसीनाके द्वारा बाहर निकल जाता है। जो कुछ बचता है वह मधुर विपाकके साथ मिलकर मधुरविपाकरससम्बन्धी गुण-कर्मों को प्रका-

शित करनेमें सहायक होता है। इसीलिये लवणको मधुरविपाकी कहा गया है। कटु-तिक्त और कषाय रस रूक्ष हैं। पचन कालमें वायुके प्रभावसे उनकी रूक्षता और पित्तप्रभावसे उनकी कटुता और भी बढ़ जाती है। इसलिये ये तीनों रस विपाकमें भी कटु ही होते हैं।

विपाक रस तीन हैं—रसोंका पाक होकर यह जो अन्तिम रस बनता है, इसमें छः रसों का स्वाद नहीं मिलता; बल्कि विपाक रसमें कुल तीन ही रस होते हैं; मधुर, अम्ल और कटु। छः रसोंमेंसे मधुर और लवण रसका विपाक मधुर होता है, अम्ल रसका विपाक अम्ल होता है और तिक्त-कटु-कषायरसका विपाक प्रायः कटु होता है। वाग्भट कहते हैं—

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः।
स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः।
तिक्तोषणकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः॥

चरकके टीकाकार चक्रपाणिदत्त कहते हैं। 'जठराग्नियोगादाहारस्य निष्ठाकाले यो गुण उत्पद्यते स विपाकः। अर्थात् जठराग्निके योगसे आहारका निष्ठाकालमें जो गुण उत्पन्न होता है, उसे विपाक कहते हैं। अवस्थापाकमें जठराग्निका प्रयोग है ही। यकृतके निष्ठाकालमें भी जठराग्निके पाचक गुणका उपयोग होता है। अत एव परिभाषा ठीक ही है। चरकमें लिखा है—

परं चातो विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते।
कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।
अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।

एक मत यह है कि रसोंका विपाक नहीं होता बल्कि द्रव्यका होता है। इसमें कोई बड़ा विरोध नहीं है। आहार द्रव्यका अवस्थापाक होकर जो रस तैयार होता है वह द्रव्यका ही भाग है और उस रसरूपी द्रव्यमें स्वादु-अम्लादि रसका समावेश रहता ही है। जतूकर्ण कहते हैं—

विपाकस्तु प्रायशो मधुरो मधुरलवणयोः, अम्लोऽम्लस्य, कटुः कटु-तिक्त-कषायाणाम्।

पराशर-विपाक तो तीन मानते हैं किन्तु विवरणमें उनका मतभेद है। उनके मतसे अम्लका विपाक अम्ल, कटुका कटु और शेष चार मधुर-लवण-तिक्त-कषाय का विपाक वे मधुर मानते हैं—

पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते कटुः कटुकम्।
चत्वारोऽन्ये मधुरं संसृष्टरसास्तु संसृष्टम्॥

तिक्त और कषाय रस रूक्षता उत्पन्न करनेवाले (Dessicant) और मल-मूत्रका अवरोध करनेवाले हैं। इनका मधुररससे मेल नहीं बैठता। अत एव यह विचार उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। तिक्त और कषायरस श्लेष्मनाशक हैं और मधुर श्लेष्मवर्धक है, ऐसी दशामें यह विचार उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। मालूम पड़ता है कि तिक्तके शीतगुण और कषायके पित्तनाशक होनेके कारण ऐसी कल्पना की गयी है। सुश्रुतके मतमें मधुर और कटु दो ही विपाक होते हैं 'आगमे हि द्विविध एव पाको, मधुरः कटुकश्च' (सु० सू० अ० ४०) सुश्रुतके मतमें अम्लका विपाक नहीं होता। आग्नेय गुणके कारण पित्त ही विदग्ध होकर अम्लता प्रदर्शित करता है। गुरु द्रव्योंका गुरुपाक और लघु द्रव्योंका लघुपाक होता है। पृथ्वी और जलगुणकी अधिकतासे मधुर; अग्नि-वायु-आकाश गुणके बाहुल्यसे कटुविपाक होता है। इस प्रकार पृथ्वी और जलकी अधिकताके कारण स्निग्ध गुण विशिष्ट मधुर-अम्ल और लवणका विपाक मधुर होता है। वायुगुणके अतिरेक और रूक्षगुणके कारण कटु-तिक्त-कषायका विपाक कटु होता है। यथार्थमें ३ दोषोंके विचारसे ३ विपाक मानना ही उपयुक्त है।

अष्टाङ्गहृदयका ऊपर दिया हुआ मत ही हमें अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। द्रव्योंका पचन होकर जो उनके स्वरूप और रसकी परावृत्ति होती है, अर्थात् स्वरूपान्तरत्वेन और रसान्तरत्वेन परिणति होती है वही उनका विशेष विपाक है। जठराग्निके योगसे खाये हुए द्रव्योंका जो सारभाग और किट्टभाग अलग होता है उसमें से जो द्रवरूप सारभाग होता है वही रस नामक धातु है और किट्टभाग मूत्र और पुरीषरूपी मलधातु है। उस रस-मल-धातुका रसान्तर रूपमें तथा द्रव्यान्तररूपमें परिणति विपाकके द्वारा होती है। तिक्तरसका विपाक होने पर कटु-विशेषरूपका रसधातु होता है और कषाय रसका विपाक रसभी कटुके समान ही होता है। इसलिये कटु-तिक्त-कषायका विपाक प्रायः कटु कहना ही समीचीन है। कुछ आचार्य वात-पित्त-कफ दोषके विचारसे तीन विपाक माननेकी सलाह देते हैं। क्योंकि कफ मधुर है, उसकी उत्पत्ति और पोषण मधुर रससे होती है। पित्त अम्ल है और उसका पोषण अम्लरससे होता है, वायु कटु है और उसकी उत्पत्ति एवं पोषण कटुरससे होती है। अतः तीन दोषोंके लिये तीन विपाक भी मानना चाहिये। अर्थात् कफ दोष या वात-कफ दोषके योगसे मधुर विपाक, कफ-पित्त के योगसे अम्लविपाक एवं तीनों दोषोंके योगसे अथवा वातसे, पित्तसे तथा वात-पित्तके योगसे कटु विपाक होता है।

कफाद् वातकफात् स्वादुरम्लः पित्तकफोद्भवः।
दोषैस्त्रयोऽनिलात् पित्ताद् वातपित्तात् कटुर्मतः।

किन्तु रसपाकमें इस प्रकार दोषविचारसे पाक होना समीचीन नहीं है। चरकने विवेचन करते हुए लिखा है कि—जिह्वा अथवा शरीरावयवमें द्रव्यका निपात होनेपर जो स्वादका अनुभव हो उसे रस कहना चाहिये। कर्म निष्ठा द्वारा जो विशिष्ट पाक हो उसे विपाक कहना चाहिये। एक निष्ठाका अर्थ यह है कि मुख-आमाशय-अग्न्याशय और जठराशयमें अधिनिवासपूर्वक रसोत्पत्ति होनेके बाद जो रसान्तरकी उत्पत्ति हो वह विपाक है। प्रथम विपाकके समय मुखमें मधुर भाव, आमाशयमें अम्लभाव और पक्वाशयमें जो रसका कटुभाव होता है वह विपाक नहीं अवस्थापाक है। इसी तरह जिह्वामें निपात और जठरादिमें पाकके समय निपात और अधिवासकालमें जिस शक्तिके द्वारा कर्म पूर्ति हो उसे वीर्य कहना चाहिये।

भदन्त नागार्जुन विपाकका लक्षण द्रव्य-परिणाम अर्थात् रूपान्तर होना अर्थात् जरण या पाचन होना बतलाते हैं। इसका ज्ञान तो जिह्वामें रखते ही हो जाता है, परन्तु विपाकका ज्ञान पचन होनेके पश्चात् उसके परिणाम-दर्शनसे ही होगा। रस प्रत्यक्ष और विपाक अप्रत्यक्ष अर्थात् नित्य परोक्ष है। नागार्जुन कहते हैं कि—कालकी दृष्टिसे, गुणकी दृष्टिसे या रसकी दृष्टिसे विचार करने पर तीन विपाक सिद्ध नहीं होते। कालभेदसे तीन विपाक नहीं हो सकते क्योंकि चिरकाल और अचिर कालसे भिन्न कोई तीसरा काल नहीं है। गुणविचारसे भी तीन विपाक नहीं हो सकते क्योंकि गुरु महाभूतोंसे उत्पन्न रस गुरु और लघुमहाभूतोंसे उत्पन्न रसोंका विपाक लघु होगा। रसभेदसे भी मधुर और कटु अर्थात् मधुर गुरुविपाकी और कटु लघुविपाकी होगा। गुरु पृथ्वीमहाभूत और जलमहाभूतसे सम्पन्न होता है। अग्नि-वायु और आकाश लघु ही हैं। गुरु चिरकालपाकी और लघु शीघ्रपाकी होते हैं। खैरकी लकड़ी देरसे जलती है किन्तु लघु घास तुरन्त जल जाती है। मधुर पार्थिव और आप्य है। कटु रस आग्नेय और वायव्य है। वायु-तेज और आकाशप्रधान द्रव्योंका लघुपाक कटुरसविपाक होता है। गुरु गुणवाले द्रव्य पृथ्वी और जल तत्त्वके कारण गुरु या मधुरविपाकी होते हैं। जैसे तीनरस दोषशामक और तीन दोषप्रकोपक होते हैं वैसा विपाकमें नहीं है। लघुविपाक जल कफको बढ़ाता है किन्तु लघुविपाक मधु कफका प्रशमन करता है। किन्तु यह तर्क परम्परा और प्रत्यक्ष-विरुद्ध होनेसे अग्राह्य है।

किसी-किसीके मतमें प्रत्येक रसका भिन्न-भिन्न विपाक होता है। अर्थात् मधुर आदि छहों रसोंके छः विपाक होते हैं। क्योंकि बटलोईमें जो वस्तु पकायी जाती है, उससे उसी रसकी वस्तु पकती है। पका हुआ दूध मधुर ही होगा। धान, यव, गेहूं, मूंग आदि बोनेसे धान, यव, गेहूं, मूंगके ही अंकुर फूटेंगे। इसी प्रकार जठराग्नि द्वारा विपाक होनेपर भी मधुरका विपाक मधुर, अम्लका अम्ल, लवणका

लवण, कटुका कटु, तिक्तका तिक्त और कषायका कषाय ही विपाक होगा किन्तु यह विचार ठीक नहीं है, खट्टी इमली आगमें पकानेसे मीठी हो जाती है। खट्टा आम पकने पर मीठा हो जाता है, मधुर चावलका भात विपाकमें अम्ल हो जाता है। खट्टा आंवला विपाकमें मधुर हो जाता है, मधुर तैल विपाकमें कटु हो जाता है। कटु रसवाली पिप्पली विपाकमें मधुर हो जाती है। अतएव यह सिद्धान्त गलत है। कुछ लोगोंका मत है कि अनेक रसोंके संयोगमें दुर्बल रस, बलवान रसके अधीन हो जाते हैं। अर्थात् जिस संयोगमें जिस रसका जोर अधिक रहता है, विपाकमें वही रस प्रधान होकर बनता है अत एव विपाक दो हैं (१) बलवान पाक (२) निर्बल पाक। बलवान अपने व्यक्तित्व या अधिकतासे निर्बलको दबा लेगा। और निर्बल पाकरस बलवानके अधीन हो जायगा। किन्तु इस दृष्टिसे विपाकको अनवस्थित मानना पड़ेगा। अर्थात् उसकी कोई व्यवस्था अथवा नियम ठहराना सुगम नहीं होगा। इन दोनोंके विपरीत सुश्रुतने मधुर और कटु केवल दो ही विपाक माने हैं; और उनकी उपपत्ति इस प्रकार की है कि—जिन द्रव्योंमें पृथ्वी और जलकी गुरुताकी अधिकता होती है उनका विपाक मधुर होता है और बाकीके अग्नि, वायु और आकाशतत्ववाले पदार्थ हलके होते हैं। अत एव इनका विपाक उन्होंने कटु माना है। यथा—

> द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः।
> निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते॥
> तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु।
> निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते॥

यह मानना पड़ेगा कि ऊपरके जो दो मत हैं (अर्थात् एक तो यह कि भिन्न-भिन्न रसोंका अलग-अलग विपाक होता है और दूसरा यह कि रसके जो गुण कम-अधिक रससंयोग रसकालमें रहते हैं वे ही विपाकावस्थामें भी रहते हैं।) इनका यही मतलब निकलता है कि विपाकावस्थामें कोई विशेषता नहीं रहती। अतएव यह सिद्धान्त तो अप्रयोजक मालूम पड़ता है। इससे सुश्रुतका मत कुछ वैज्ञानिक है। परन्तु उसमें अम्लविपाकका जो अनादर किया गया है वह चरकके सिद्धान्तसे नहीं मिलता और प्रत्यक्षसे भी विपरीत पड़ता है। पित्तसे ही विदग्ध होकर अम्लत्व आती है। लवण विदग्ध होकर मधुर और श्लेष्मा विदग्ध होकर नमकीन हो जाता है। सुश्रुत यह भी कहते हैं कि सब प्रकारके खाये हुए द्रव्योंका जठराग्नि द्वारा जो सम्यक्पाक होता है वह धातु साम्यकर आरोग्यप्रदानरूपी गुण प्रगट करता है। किन्तु यदि जठराग्निकी मन्दतासे हीन पाक हो तो वह आमविकाररूप दोष उत्पन्न करता है। यदि जठराग्निकी तीक्ष्णतासे अतिपाक हो तो भस्मक-

विकाररूप दोष उत्पन्न करता है। अर्थात् असम्यक् पाकसे धातुवैषम्य होता है और धातुवैषम्यसे शारीरिक विकार होते हैं। अतएव सम्यक् विपाक आरोग्यप्रद गुण है और मिथ्याविपाक शारीरिक विकाररूप दोषका हेतु होनेसे विपाक है ही नहीं। फिर विपाक तो द्रव्यका होता है रसका नहीं। कटुरसवाले चित्रकका कटुविपाक सम्यक् विपाक है। किन्तु कटुरसवाली पिप्पलीका मधुर विपाक मिथ्याविपाक है। कुलथी अम्लविपाकी होनेके कारण पित्त उत्पन्न करती है, किन्तु आपकी विचारसरणी विचारणीय अवश्य है। आप कहते हैं कि—'भूतगुणादामाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति, पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैति, आग्नेयत्वात्।' अर्थात् अग्नि गुण प्रधान अम्लका विपाक अलग नहीं होता आग्नेय गुणके कारण अन्य अम्लविपाकी पदार्थ भी पित्त पैदा करते हैं। अधिक खट्टी चीजें खानेसे खट्टी डकारें आती हैं। इसके सिवाय आजकलके पश्चिमी वैज्ञानिक भी अन्नरसमें एसिड पैदा होना मानते हैं। यदि कोई कहे कि कुलथी आदि पदार्थ जो पित्त उत्पन्न करते हैं, वह अम्लविपाकी होनेके कारण नहीं; वल्कि उष्णवीर्य होनेके कारण पित्त उत्पन्न करते हैं, तो यह कथन युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। क्योंकि भातका रस मधुर होता है; अतएव इस सिद्धान्तके अनुसार उसका विपाक भी मधुर मानना पड़ेगा; फिर मधुरविपाकी पदार्थका वीर्य उष्ण मानना भी एक समस्या है। फिर भातमें पित्त उत्पन्न करनेवाली शक्ति कहांसे आयी। ऊपरके सिद्धान्तके अनुसार यदि हम यह मानें कि रस और विपाक मधुर होने पर भी और भातके तथा उसके रस और विपाकके शीतवीर्य होने पर भी पित्त होता है तो इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि दोनोंके शीतस्वभावसे एक उष्ण॰ वीर्य बाधित हुआ। यह मानें तो भी पित्त उत्पन्न करने लायक उष्णवीर्यता उसमें नहीं हो सकती। इसके सिवाय यदि भात-कुलथी आदिसे उत्पन्न होनेवाला पित्त उष्णवीर्यतासे होता हो तो उसमें कटुता विशेष रूपसे रहनी चाहिये। किन्तु प्रत्यक्षमें भात या कुलथीमें कटुता नहीं पायी जाती। यह सब होने पर भी अम्ल॰ ताकी प्रधानता भी उनमें रहती ही है। भात-कुलथी आदि खाने पर जो खट्टी डकारें आती हैं उससे भी यही प्रतीत होता है कि इनका विपाक मधुर नहीं होता है। इसके सिवाय जब हम यह मानने बैठें कि पृथ्वी और जलतत्त्वप्रधान द्रव्योंका विपाक मधुर और वायु-अग्नि-आकाश तत्त्वप्रधान पदार्थोंका विपाक कटु होता है तो यह भी क्यों न मानें कि इन दोनोंका मिश्रण होने पर अर्थात् उक्त दोनों विपाक उत्पन्न करनेवाले गुण अधिक होने पर पृथ्वी और अग्नि तत्त्वसे उत्पन्न विपाक अम्ल होता है। इस प्रकार सुश्रुतके मतका विरोध होता है। हां, इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि सुश्रुतका यह जो विरोध है वह सिद्धान्तका नहीं वचनमात्रका है, क्योंकि चरकने जिसे अम्ल विपाक माना है

उसीको सुश्रुतने वीर्योष्ण अम्लत्वके पित्त द्वारा विदग्ध कह कर समाधान किया है। परन्तु इससे द्रव्यके गुणमें कुछ अन्तर नहीं आता।

हाँ एक शंका और भी हो सकती है। लवण रसका विपाक मधुर माना गया है। फिर मधुरविपाकी पदार्थसे (लवणसे) रक्तपित्तकी उत्पत्ति क्यों होनी चाहिये ? इसका समाधान यों किया जा सकता है कि लवणका विपाक यद्यपि मधुर है तो भी उसमें जो उष्णवीर्यता है उसीके कारण रक्तपित्तादिकी उत्पत्ति होती है। कोई कोई टीकाकार ऐसी शंका न उठने देनेके लिये 'अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।' श्लोकके अन्तिम 'तथा' शब्दका सम्बन्ध अम्लशब्दसे लगा कर यह अर्थ करते हैं कि अम्लका विपाक अम्ल, मधुरका मधुर तथा लवणका विपाक भी अम्ल ही होता है। अर्थात् 'लवणादम्ल पच्यते' अर्थ करते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है और न अन्य आचार्योंके वचनोंसे इसका समर्थन ही होता है। आचार्य जतूकर्णका वचन है—'कट्वादीनां कटुको विपाकः, अम्लोऽम्लस्य, शेषयोर्मधुरः।' अर्थात् कटु-तिक्त-कषायका विपाक कटु, अम्लका विपाक अम्ल और शेष मधुर और लवणरसका विपाक मधुर होता है। कोई कहे कि विपाक तीन ही क्यों होते हैं छः क्यों नहीं होते ? तो इसका यही उत्तर है कि यह महाभूतोंका स्वभाव है, इस पर प्रश्न उठाना व्यर्थ है। मतलब यह कि मधुर और अम्लरस विपाकमें भी ज्योंके त्यों मधुर, अम्लके गुणफल ही रहते हैं। लवणरस मधुर विपाकमें और तिक्त-कषाय कटु विपाकमें परिणत हो जाते हैं। यह विपाक रस आहार पचनेके अन्तमें होता है। मूलरस परिणामकालके—विपाकावस्थाके—सिवाय अन्य समयमें विपाकके विरुद्ध समझना चाहिये। अर्थात् विपाकमें परिणत होनेके पहिले लवणका लवणत्व गुण, तिक्त-कषायका तिक्त-कषायत्व गुण कायम रहता है। अर्थात् ओषधि-प्रभावमें मूलरस और विपाकरस दोनोंका प्रयोजन रहता है। उदाहरणार्थ पिप्पलीका कटुरस सेवन करते समय गलेके कफको निकाल बाहर करता है, मुँहको शुद्ध करता है, कटुरसके अन्य कार्य भी करता है। फिर जाकर विपाकमें पिप्पली मधुर रसवाली हो जाती है, जिससे उसके द्वारा वृषत्वगुण सम्पादित होता है। अर्थात् मूलरस और विपाक दोनोंकी सार्थकता होती है। जिन पदार्थोंका मूलरस और विपाकरस दोनों समान होते हैं, उन पदार्थोंके रसोंकी क्रिया अधिक जोरदार रहती है और जिन पदार्थोंके रस और विपाक भिन्न होते हैं उनके रसोंका कार्य दुर्बल होता है। मधुर-अम्ल और कटु विपाकके रसमें गुण-साधारण मधुर-अम्ल और कटु रसके समान ही प्रायः होते हैं। अर्थात् मधुर रसके सेवनका जो फल हृष्ट-पुष्ट करना होता है वह मधुर विपाकके द्वारा भी होगा। इसी तरह अन्यका भी समझें। अर्थात् फल प्राप्ति तो समान होगी, पुष्पके समान आह्लादन, पीडन आदिसे ही उसकी पूर्ति न होगी।

विपाककर्म—

साधारणतः जो द्रव्यके रसका गुण-कर्म होता है वही उसके-उसी रसके विपाक काभी होताहै। अन्तर इतना ही है कि विपाकका कार्य सारे शरीरमें होता है, क्योंकि रक्तके साथ उसका भ्रमण सारे शरीरमें होता है, यह कार्य अप्रत्यक्ष या अनुमेय होता है। अतएव रसके प्रभावसे यह बलवान होता है। श्रीयुक्त घाणेकरजी विपाकका एक और कार्य 'द्वितीयक' मानते हैं और सार्वदेहिकका अनुवाद सिस्टेमेटिक, अप्रत्यक्षका इनडाइरेक्ट और द्वितीयकका सेकण्डरी करते हैं। द्रव्यगत रसमें जैसा बल या निर्बलत्व होगा, विपाकका बल भी उसी पर निर्भर होगा। यदि द्रव्य अत्यन्त मधुर हो तो विपाक भी उत्कृष्ट मधुर होगा। यदि मध्यम मधुर हो तो विपाक भी मध्यम बलका होगा और यदि रस अल्पमधुर होगा तो उसका विपाक भी अल्पगुण-दर्शक होगा। जिस प्रकार रसका ज्ञान जिह्वाप्रपातसे तुरन्त हो जाता है, उस तरह विपाकका ज्ञान सहज सम्भव नहीं है। विपाक तो ओषधि या भुक्त द्रव्यका पचन होनेके पश्चात् फिर पचन होनेके कारण उसका गुणदर्शन शरीरमें दोषों की वृद्धि, प्रकोप या प्रशमनके रूपमें दिखाई पड़ सकता है। इसके विपरीत वीर्यका ज्ञान कभी तो शरीर पर उस द्रव्यके निपातके पश्चात् ही होता है और कभी शरीर पर उसके कार्य-दर्शनसे होता है। कभी-कभी दोनों प्रकारसे अर्थात् निपात और अधिवास दोनोंसे होता है। अर्थात्-साधारणतः रसका ज्ञान प्रत्यक्ष विपाकका अप्रत्यक्ष या कार्यानुमेय और वीर्यका ज्ञान प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारसे होता है। विपाकके कार्योंके सम्बन्धमें चरक, सूत्र अध्याय २६ में लिखा है—

मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात् त्रयो रसाः।
वात-मूत्र-पुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः॥
कटु-तिक्त-कषायास्तु रूक्षभावात् त्रयो रसाः।
दु:खाय मोक्षे दृश्यन्ते वात-विण्मूत्र-रेतसाम्॥
शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।
मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफ-शुक्रलः॥
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा॥

अर्थात् मधुर-अम्ल और लवण ये तीन रस स्निग्ध हैं; अतएव वात-मूत्र और मलका अनुलोमन कर साफ लाते हैं। कटु-तिक्त और कषाय इन तीन रसोंवाले द्रव्य रूक्ष होनेके कारण कष्टके साथ वायु-मल और मूत्रको निकालते हैं अर्थात कब्ज करनेवाले होते हैं। कटुविपाकी द्रव्य शुक्रका क्षय करनेवाले और वायु उत्पन्न

करनेवाले होते हैं। मधुरविपाकी द्रव्य मल और मूत्रको साफ लानेवाले तथा कफ और शुक्रको बढ़ानेवाले होते हैं। अम्लविपाकी द्रव्य मल और मूत्रको साफ लानेवाले, शुक्रक्षय करनेवाले और पित्तको बढ़ानेवाले होते हैं। मधुर विपाकवाले द्रव्य गुरु अर्थात् विलम्बसे पचनेवाले और कटु तथा अम्ल विपाकवाले द्रव्य लघु अर्थात् शीघ्र पचनेवाले होते हैं। मधुर विपाकवाले द्रव्य वैसा ही गुण-कर्म प्रकट करते हैं जैसा मधुररस करता है। अम्ल विपाकवाले द्रव्य वैसा ही गुण-कर्म प्रकट करते हैं, जैसा अम्ल रसवाले द्रव्य करते हैं। कटुविपाकवाले द्रव्य वेही गुण-कर्म सम्पादित करते हैं जो कटुरसवाले द्रव्य करते हैं। बात यह है कि-मधुर-अम्ल और लवण-रस निष्ठापाक (विपाक) के पश्चात् भी अपने स्नेह गुणके कारण वायु-मल और मूत्रका विसर्जन सरलतासे सुखपूर्वक करते हैं। अतएव मधुर-अम्ल और लवण-रसके समान ही इनके कर्म होते हैं। इसी तरह कटु-तिक्त-कषाय द्रव्य रूक्षगुणके कारण खुश्की पैदा कर कठिनाईसे वायु और मल-मूत्रका विसर्जन होने देते हैं। यह और बात है कि केलेका फल अम्लरस होनेपर भी ग्राही होता है। कटुविपाक रूक्ष होनेके कारण शुक्रनाशक होता है। अम्लविपाक पित्तकृत् और शुक्रनाशक उष्णवीर्य होनेके कारण होता है। किन्तु मल-मूत्रादिका सुखपूर्वक विसर्जन स्निग्ध होनेके कारण करता है। यदि कटु-तिक्त-कषायविपाकी द्रव्य उच्चकोटिके रूक्ष होंगे तो वात-पुरीष और मूत्र निकालनेमें वे बहुत जबरदस्त दुःख देनेवाले होंगे। यदि मध्यम कोटिके होंगे तो मध्यम कष्टके साथ मल-मूत्र वायु का विसर्जन करेंगे और यदि अधम कोटिके निर्बल रूक्ष होंगे तो थोड़े कष्टके साथ मल-मूत्रादिका विसर्जन करावेंगे। अतिग्राही कषाय, मध्यमग्राही कटु और अल्पग्राही तिक्त विपाक होता है। कटुविपाकी द्रव्य शुक्रनाशक, वातवर्धक और मल-मूत्रको रोक-नेवाले होते हैं। कटुरसके गुणोंमें जो मुखशोधन, लघु, उष्ण आदि गुण बतलाये गये हैं वे गुण भी प्रदर्शित होते हैं। मधुरविपाकी द्रव्य श्रेष्ठ स्नेह गुणयुक्त होते हैं अतएव मूत्र-मलका विसर्जन उत्तमतासे कराते हैं, कफ और शुक्रको बढ़ाते हैं। साथ ही मधुर रसके अन्य जो गुणकर्म हैं उन्हें भी पूर्ण करते हैं। अम्लविपाक अपने स्नेह भावके कारण मध्यम रूपसे इनका विसर्जन कराता है, मध्यमकोटिका शुक्रनाशक है और पित्तवर्धक है। साथ ही अम्लरसके कथित अन्य गुणकर्म भी उसके द्वारा होते हैं। विपाकके पहले जो रसकर्म प्रकट होते हैं वे रस प्रभावसे होते हैं, पचनानन्तर जो रसगुण प्रकट होते हैं वह विपाक रसके योगसे होते हैं।

सुश्रुत गुरु और लघु विपाकके नामसे जो गुण लिखते हैं वे ऊपरके सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं हैं—

'गुरुपाको वात-पित्तघ्नः, लघुपाकः श्लेष्मघ्नः। गुरुपाकः सृष्ट-

विरमूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविरमूत्रतया मारुतकोपेन च ॥'
(सु. सू. अ. ४१)

अर्थात् गुरुविपाकी द्रव्य वात और पित्तका नाश करते हैं और लघुविपाकी द्रव्य श्लेष्मनाशक होते हैं। गुरु विपाकका अनुमान कफकी वृद्धि तथा मल-मूत्रके साफ खुलकर आनेसे करना चाहिये। लघु विपाकका अनुमान वायुकी वृद्धिसे और मलमूत्रके अवरोध-कब्जियतसे करना चाहिये। द्रव्यगुणसंग्रहमें जो विपाकका कर्म लिखा है वह भी ऊपरके मतका ही समर्थक है—

कटुविपाकः शुक्रघ्नो बद्धविड् वातलो लघुः।
स्वादुर्गुरुः सृष्टमलो विपाकः कफ-शुक्रलः।
पाकोऽम्लः सृष्टविरमूत्रः पित्तकृच्छुक्रनुल्लघुः॥

अष्टांगसंग्रहमें 'रसैरसौ तुल्यफलः' कहकर सूचित किया है कि रसके जो कार्य हैं विपाकके भी उसीके तुल्यफलवाले होते हैं। इस पर टीकाकार हेमाद्रि कहते हैं कि यहां तुल्यगुण न लिखकर जो तुल्यफल कहा गया है वह विशेष ध्यानमें रखने योग्य है। जैसे वनस्पति-जीवनका अन्तिम परिणाम फलोत्पत्ति होता है, उसी प्रकार खाये हुए आहार और औषध द्रव्योंका अन्तिम परिणाम विपाक होता है। अतएव तुल्यगुण न लिखकर तुल्यफल लिखनेसे यह सूचित किया गया कि रसोंके विपाकका परिणाम पुष्पके समान देहाह्लाद आदि लक्षणवाला नहीं बल्कि फलके समान वृष्यादि रूप होता है।

विपाकका लक्षण—

'विपाकः कर्मनिष्ठया' बतलाया गया है। जिससे स्पष्ट है कि कर्म की निष्ठा या कर्म की समाप्तिसे विपाकका ज्ञान होता है। खाये हुए द्रव्यका जठराग्निके द्वारा परिपाक होनेके पश्चात् रसोंका जो अन्तिम परिणाम कफवृद्धि, शुक्रवृद्धि आदि फलस्वरूप होता है, उसे देखकर अनुमान द्वारा विपाकका ज्ञान-निर्णय हो सकता है। विपाक नित्य अपरोक्ष अर्थात सदा अप्रत्यक्ष रहता है। इसलिये कार्य देखकर ही यह अनुमान किया जा सकता है कि यह विपाक मधुर है या अम्ल है या कटु है। यही अष्टाङ्गसंग्रहकार (च० सं० सू० अ० १७) में भी कहा है।

विद्याद् विपाकं द्रव्याणां कर्मणः परिनिष्ठया

अर्थात् विपाक विशेषका ज्ञान उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंकी फलनिष्पत्तिसे अर्थात् दोषवृद्धि या दोषक्षयके लक्षण प्रकट होनेसे हो सकता है।

समन्वयः—पण्डित यादवजी त्रीकमजी आचार्यने अपनी पुस्तकके वक्तव्यमें विपाकसम्बन्धी कई वादों का उल्लेख किया है। सुश्रुत और रसवैशेषिकसे भी प्रकट होता है कि विपाकसम्बन्धी कई वाद किसी समय आयुर्वेदमें प्रचलित थे।

(१) एकमत यथारसविपाक या रससदृश विपाक माननेवालोंका था, जो समझते थे कि मधुरादि छहों रसोंका विपाक अपने रसके अनुकूल होता है अर्थात् रसभेदसे ६ प्रकारका विपाक होता है। (२) दूसरा अनवस्थित या अनियत विपाक माननेवालोंका था। जिनकी समझ थी कि–छः रसोंके विपाककालमें जो रस बलवान होता है वह दुर्बल रसोंपर प्रभाव डालकर अपनी विशेषता रखता है। जब दुर्बल रस बलवान रसके अधीन हो जाता है तब रसोंका नियत विपाक निश्चय करना कठिन है, यह अनवस्थित और अनियत विपाककी बात है। तीसरा मत त्रिविधविपाकका है। जिसमें मधुर-अम्ल-कटु तीन विपाक माने जाते हैं। भरद्वाज-आत्रेय-वाग्भट इसीको माननेवाले हैं। (४) चौथा मत सुश्रुत या धन्वन्तरि सम्प्रदायका द्विविध विपाकवाद है, जो रसोंके गुरु-लघु भेदकर दो विपाक मानता है। इस सम्प्रदायको गुरु विपाकको मधुर विपाक और लघु विपाकको कटु विपाक कहना सम्मत है। किन्तु अम्लको ये अलग विपाक न मानकर पित्तद्वारा विदग्ध होनेसे अम्लताकी प्राप्ति मानते हैं। पहला मत तो प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे कट जाता है। क्योंकि रसोंके विपाकमें एक तारतम्य नहीं विपर्यास भी होता है। दूसरे मतके अनुसार विपाककी कोई नियत स्थिति ही नहीं रहती अत एव असान्य है। सुश्रुतका जोर रसोंको प्रधानता देकर रसविपाक निश्चित करनेपर नहीं बल्कि रसोंके गुरु-लघु भेदके अनुसार विपाक निश्चित करनेकी ओर है। अत एव इसे रसविपाकवादी नहीं कह सकते। गुरु और लघु गुणोंमें मधुर और कटुका प्रयोग हुआ अवश्य है किन्तु रसको प्रधानता न देकर गौणत्व दे दिया गया है। यद्यपि त्रिविधविपाकवाद और इस द्विविधविपाक वादमें मतभिन्नता है तथापि दोनों मतोंके विपाकोंके फलोंमें अन्तर नहीं, समानता है। चरकमें मधुर विपाकको गुरु और अम्ल तथा कटु विपाकको लघु माना है। सुश्रुतने गुरु विपाकके जो गुण लिखे हैं वे सब मधुर विपाकमें आ जाते हैं और सुश्रुतोक्त लघुविपाकके गुण अम्ल और कटु विपाकमें आजाते हैं। अत एव इन दोनों मतों की विचार, बोली और शब्द प्रयोगमें अन्तर होनेपर भी तत्वतः फलमें कोई अन्तर नहीं है। अत एव इन दोनों मतोंका समन्वय हो जाता है।

विपाकमें अपवाद—

विपाकका विवेचन करते हुए आचार्योंने प्रायः शब्दका प्रयोग किया है। अर्थात् मधुर और लवणका विपाक प्रायः मधुर, अम्लका विपाक प्रायः अम्ल और कटु-तिक्त-कषायका विपाक प्रायः कटु होता है। इसका मतलब यही है कि विपाक प्रायः ऐसा ही होता है, परन्तु कभी-कभी किसी विशेष कारणसे इसके विपरीत कुछ अपवाद भी होते हैं। उदाहरणार्थ अम्ल रस आंवलेका विपाक मधुर होता है और अम्लगुणके विपरीत वह शीतवीर्य भी हो जाता है। तिलका तेल रसमें मधुर

होते हुए भी विपाकमें कटु होता है। अलसी का तेल मधुराम्ल होते हुए भी विपाकमें कटु होता है। साधारणतः लवण मधुरविपाकी होते हैं; परन्तु पांशुजलवण या सौवर्चल लवण रसमें कटु होता है और विपाकमें भी कटु होता है। सुश्रुत लवणके मधुरविपाकी होनेके सम्बन्धमें कहते हैं कि-मधुररसके साथ लवणरसका भी विपाक होनेसे स्निग्ध-गुरु-शीत विशेषणके रूपमें विपचित होता है। लवणरस अल्प परिमाण होनेके कारण उसके गुरु-स्निग्ध और उष्ण रहते हुए भी उष्णत्वके विचारसे नहीं; बल्कि गुरुपाक और पृथ्वी तत्त्वकी सजातीयताके अधिकारसे मधुर-रसविपाक होनेपर उष्णताका प्रभाव नहीं दिखाता। उसका विपाक स्निग्ध-गुरु-शीत विशेषणसे होता है उष्णताके उष्ण विशेषणसे नहीं। गुरुपाकमें पृथ्वी तत्त्वकी सजातीयताके आधिक्यसे इस प्रकारकी उत्पत्ति होती है। लवणके लवणारम्भक अग्निगुणका विनाश पृथ्वी और जल गुणके उद्रेक या अधिकतासे हो जाता है। पृथ्वी और जलके सारत्वके उद्रेकसे अग्नि गुणका निस्सारत्व प्रतिपादित होता है। अत एव इसमें विरोध नहीं रह जाता। इसी तरह कषाय रस सहचर रूक्ष-शीत-गुरु वस्तुके गुण पाक होनेपर अमूर्त वायुका प्रभाव कषायके शीत और पृथ्वी गुणके आगे निर्बल पड़ जाता है और लघुपाकी कटुसंज्ञा प्राप्त हो जाती है।

'तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु।
निर्वर्त्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते।'

हरीतकी अधिकताके साथ कषाय रस है परन्तु विपाकमें उसका रस मधुर निष्पन्न होता है। सोंठ दीपन, वृष्य, ग्राही, हृद्य और विबन्धनाशक है, रुच्य और लघु है; किन्तु कटुरस होनेपर भी मधुर पाक है। अदरख भी कटुरस होने पर भी मधुरपाकी है। यों साधारणतः यदि रससे विपाक बलवान होतो रसके गुणोंका पराभव कर विपाक अपना प्रभाव दिखलाता है; किन्तु कभी-कभी विपाकसे अधिक बलवान वीर्य होता है तब वह वीर्य रस-विपाक दोनोंके ऊपर अपने गुण-कर्मको प्रकट करता है।

रसं विपाकस्तौ वीर्यम्

अम्ल-तिक्त-कटु रस होने पर भी अनार-परवर-पिप्पली मधुरविपाक और शीतवीर्य होनेके कारण पित्तनाशक है। कषायरसवाली कुलथी अम्लविपाक होनेके कारण वातनाशक है।

कर्मफल रहस्य—

यह नहीं समझना चाहिये कि-सभी मधुर या कटुविपाकी द्रव्योंसे उनके गुणानुरूप जो फलप्राप्ति होगी वह सभीमें समान कोटिकी होगी। बल्कि द्रव्यभेदसे

किसीसे उत्तम फलप्राप्ति, किसीसे मध्यम और किसीसे अल्प फलप्राप्ति होगी। चरक सूत्रस्थान अध्याय २६ में लिखा है—

विपाकलक्षणस्याल्प-मध्यभूयिष्ठतां प्रति।
द्रव्याणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत्॥

अर्थात् द्रव्योंके गुणों अर्थात् रसकी विशेषता या तारतम्यके विचार जैसा न्यून-मध्य-श्रेष्ठ रसोपलब्धि होगी उसी भेदके अनुसार विपाकके लक्षणोंका भी न्यून, मध्य या श्रेष्ठ फल प्रकट होगा। अर्थात्-मधुरत्व, मधुरतरत्व और मधुरतमत्व इसी तरह अम्लत्व, अम्लतरत्व और अम्लतमत्व तथा कटुत्व, कटुतरत्व और कटुतमत्वके भेदसे जितना कम—अधिक मधुरत्व, अम्लत्व या कटुत्व होगा उसीके अनुसार उससे फलप्राप्ति या गुणदर्शन होगा। जिस प्रकार रसोंका श्रेष्ठत्व, मध्यत्व या अल्पत्व होगा, उसीके अनुरूप विपाक भी श्रेष्ठ, मध्यम या अल्पकोटिका होगा। और उनका फलदर्शन भी उसीके अनुरूप होगा। उदाहरणार्थ मधुर रसवाले मधुर द्रव्यों का मधुर विपाक मल-मूत्रकी प्रवृत्ति और कफ-शुक्रकी वृद्धि जितनी उत्तमतासे करेगा, लवण रसका मधुर विपाक मल-मूत्रकी प्रवृत्ति तथा कफ और शुक्रकी वृद्धि उतनी न कर अल्पमात्रामें करेगा। अम्लरसका अम्लविपाक मल-मूत्रकी प्रवृत्ति तथा कफ और शुक्रके नाश करनेमें मध्यम प्रकृतिका होगा, तिक्तरसका कटुविपाक मल-मूत्रके कब्ज करनेमें; शुक्रका नाश करनेमें और वायुको उत्पन्न करनेमें कटुकी अपेक्षा अल्पवीर्य होगा। कटुरसका कटुविपाक मल-मूत्रके कब्ज करनेमें, शुक्रका नाश करनेमें तथा वायुको उत्पन्न करनेमें मध्यम कोटिका होगा। किन्तु कषाय रसका कटु विपाक मल-मूत्रको रोकनेमें, वायुको उत्पन्न करनेमें और शुक्रका क्षय करनेमें उच्चकोटिका होगा। इसी तरह द्रव्योंकी रूक्षता, स्नेहत्व आदि गुणोंकी विशेषताके तारतम्यसे विपाकके लक्षणोंका अल्पत्व, मध्यत्व, श्रेष्ठत्व समझना चाहिये। विपाकके पहले अर्थात् अवस्थापाकके समय रसोंका कार्य होता है और अवस्थापाकके अनन्तर विपाकका कार्य होता है।

इसी तरह द्रव्योंके परिमाण-संस्कार-सात्म्य-अग्निबल-देश-काल-संयोग और पाककी विशेषतासे इनके विशेषणोंसे (भेदोंसे) विपाकमें विपर्यास या विपरीत गुणदर्शन हो सकता है। रसवैशेषिक सूत्रमें अध्याय ४ में लिखा है—

द्रव्यप्रमाण-संस्कार-सात्म्याग्निबलाबल-देश-काल-संयोग-पाकविशेषैर्विपाकविपर्यासः।

प्रमाणविशेषसे विपर्यास होनेके उदाहरण भी बतलाये गये हैं। जैसे गुरु विपाक होते हुए भी दूध थोड़ा हो तो शीघ्र पच जाता है किन्तु लघुविपाक चावल मात्रासे अधिक परिमाणमें होनेसे खानेमें देरसे पचेगा। इसी तरह संस्कार विशेषसे

भी विपर्यास होता है। जैसे गुरु विपाकवाला दूध दीपनीय द्रव्योंके संस्कारसे शीघ्र पचता है। सात्म्यसे भी विपर्यास होता है, अर्थात् जिनको दूध सात्म्य है ऐसे लोगोंको वह शीघ्र पच जाता है। अग्निबलसे भी विपर्यास होता है। जैसे तीव्राग्निवाले मनुष्यको गुरुविपाक द्रव्य भी शीघ्र पचते हैं और मन्दाग्निवालोंको लघुपदार्थ भी विलम्बसे पचते हैं। देशविभेदसे भी विपर्यास होता है। जैसे जांगलदेशमें गुरुपाकवाले द्रव्य भी शीघ्र पचते हैं; किन्तु आनूपदेशमें लघुविपाकवाले द्रव्यभी विलम्बसे पचते हैं। कालविशेषसे जो विपर्यास होता है उसका उदाहरण यों है कि—वर्षाकालमें लघु द्रव्य भी विलम्बसे हजम होते हैं; किन्तु हेमन्त ऋतुमें गुरु द्रव्य भी शीघ्र हजम होते हैं। संयोगविशेषसे भी विपर्यास होता है। जैसे सोंठ मिला हुआ या अदरख या सोंठ डालकर पकाया हुआ दूध गुरुविपाक होनेपर भी शीघ्र पचता है। पाक विशेषसे भी विपर्यास होता है। जैसे जला हुआ द्रव्य या कम पका हुआ द्रव्य विलम्बसे पचता है और पका हुआ दूध या अन्य आहार द्रव्य शीघ्र पचता है।

प्रभाव-परिज्ञान

परिभाषा—

ऊपर रस-वीर्य और विपाकका वर्णन हुआ है। कोई द्रव्य ऐसे होते हैं जो अपनी क्रिया (अपना गुण या अवगुण दिखाना) अपने आश्रित रसके द्वारा करते हैं, कुछ ऐसे द्रव्य हैं जो कि अपने भले-बुरे कार्यका दिग्दर्शन अपने विपाकके द्वारा और कुछ पदार्थ अपने वीर्यके द्वारा गुणावगुण दिखलाते हैं। किन्तु कुछ पदार्थोंमें एक ऐसी भी अचिन्त्यशक्ति पायी जाती है कि रस-वीर्य-विपाकके गुणोंकी परवाह न कर अपनी खास शक्तिके द्वारा कोई विशेष कार्य सम्पादन करनेमें वे समर्थ होते हैं। ऐसा भेद उस समय दिखलाई पड़ता है जब दो पदार्थ एक ही गुणधर्मके होनेपर भी उनका परिणाम भिन्न प्रकारका दिखलाई पड़ता है। ऐसी विशेष शक्तिको प्रभाव कहते हैं।

रसवीर्यविपाकानां सामान्ये यत्र लक्ष्यते ।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः ॥ (चरक सू. अ. २६)

किसी द्रव्यका जो रस है; उसीके अनुकूल विपाक और वीर्य भी है किन्तु कर्म भी जब उसीके अनुकूल है तब तो वह स्वाभाविक कर्म कहलावेगा। किन्तु रस-वीर्य और विपाकके गुण-कर्मोंमें तो तुल्यता है किन्तु उसके द्वारा सम्पादित होनेवाला उसके अनुकूल होकर भिन्न ही हो और उस भिन्नताका कारण भी

समझमें न आता हो तब उस द्रव्यके उस कर्मको प्रभावज कर्म कहेंगे। किसी द्रव्यका रस मधुर है, विपाक भी मधुर है, वीर्य भी शीत है तब उसका कर्म भी वातनाशक, वीर्यवर्धक, मल-मूत्रनिष्काशक होना चाहिये किन्तु यदि ऐसा न हो और उसका कारण भी समझमें न आता हो तब उस अचिन्त्य द्रव्य शक्तिको उसका प्रभाव कहा जायगा। रस-वीर्य-विपाककी समानता रहनेपर भी जब किसी द्रव्यका कर्म विशिष्ट प्रकारका हो तब वह विशिष्ट या अचिन्त्य शक्तिवाला द्रव्य-कर्म प्रभाव कहा जाता है। इसीलिये कहा है—

अन्नेन रसादिकार्यत्वेन यन्नावधरायितुं शक्यते कार्यं तत्प्रभावकृत-मिति सूचयति, अत एवोक्तं प्रभावोऽचिन्त्य-उच्यते।

द्रव्यके द्रव्य प्रभावसे, गुण प्रभावसे कार्यकी भिन्नताका होना प्रभावका कारण है। और भी कहा है—

'तत्र यस्य यत् कर्म तत् तस्य चिन्तया निर्वक्तुं शक्यं तद्-व्यतिरिक्तं द्रव्यस्य यत् कर्मविशेषः सोऽचिन्त्यः, तत्तद्रस-पाक-गुण-कर्मभिः कार्य-तया चिन्तयितुमशक्यस्ततः प्रभावः शक्तिविशेष उच्यते। प्रभवनं प्रभावः सामर्थ्यं स्वस्वारम्भकद्रव्यसंयोगे समवेतानां तेषां द्रव्य-गुण-कर्मणां द्रव्य-गुणयोः सजातीयारम्भकत्वात् तत्र द्रव्यात् सजातीय-द्रव्यान्तरं जायते, गुणात् सजातीयगुणान्तरं जायते, कर्मणां तु सजातीय-कर्मारम्भकत्वनियमाभावात् कर्मसाध्यकर्माभावाच्च यत्र विजातीयं कर्म तदारम्भकद्रव्याणां कर्मण्यारब्धे तद्विजातीयं कर्म खल्वचिन्त्यं, स प्रभाव उच्यते।'

अर्थात्—सजातीयकर्मारम्भकत्व नियमका अभाव हो, कर्मसाध्य कर्मका अभाव हो, विजातीय कर्मका आरम्भ हो, उसका कारण समझमें न आवे—अचिन्त्य हो, ऐसी दशामें उस कर्मको प्रभाव कहना पड़ता है। इन सब बातोंको दृष्टिमें रख हरिद्वारकी शास्त्रचर्चा-परिषद्ने प्रभावकी परिभाषा यह निश्चित की है—

'द्रव्यगत रस-गुण-विपाक-वीर्यके अतिरिक्त प्रभाव वह शक्ति है जिसके कारण द्रव्य अपना कार्य शरीरके विविध अवयवोंपर करता है। द्रव्यके कार्यका जब तक कार्य-कारण सम्बन्ध बुद्धिगम्य नहीं होता तब तक वह कर्मोत्पादक शक्ति अचिन्त्य होनेसे उस द्रव्यका प्रभाव कहलाती है।

प्रभावके कार्यक्षेत्र—

यों तो द्रव्योंके प्रभावका प्रभाव या असर औषधान्न सेवन करनेवाले शरीरपर ही होता है और उसके कितने ही स्थान निर्धारित किये जा सकते हैं किन्तु संक्षेपमें उनका वर्गीकरण (१) स्थानिक प्रभाव और (२) सांस्थानिक प्रभावके रूपमें

किया जा सकता है। जब किसी विशिष्ट स्थानपर द्रव्यका सम्पर्क होनेसे उसका प्रभाव उसी विशिष्ट स्थानपर परिलक्षित हो तब उसे स्थानिक प्रभाव कहते हैं। इस प्रकारका प्रभाव या तो शरीरकी बाहरी त्वचापर अथवा शरीरके भीतर आमाशय आदि कला विशेषपर अथवा अन्य किसी सीमित स्थानपर हो सकता है। इसका प्रभाव सारे शरीरपर या किसी विशिष्ट संस्थानपर सम्पूर्ण रूपसे नहीं होता। शरीरकी बाहरी त्वचा, नाक, मुख, नेत्र, कर्ण, प्रजनन संस्थान आदिपर लेप द्वारा, सूँघनेके द्रव्य द्वारा, कुल्ल-गण्डूष द्वारा, अञ्जन या नेत्रबिन्दु द्वारा, कर्णतैल या पिचकारी द्वारा, लेप-तैलमालिश, तिला आदि द्वारा ऐसा प्रयोग हो सकता है। ऐसी दशामें उसका प्रभाव श्लैष्मिक कला, संज्ञावाहक-वाततन्तु एवं रक्तवाहिनी पर दृष्टिगत होगा। कभी-कभी वातवहनाड़ियोंके कारण प्रयोग-स्थानसे दूर भी प्रभाव दृष्टिगत हो सकता है। जैसे तिक्त और अम्लरस मुखमें रखनेसे आमाशय के रसकी वृद्धि होती है। बगलमें प्याजकी गांठ दबावे तो नाड़ीकी चाल बढ़ जाती है। पिप्पली, राई, शुंठी, पुष्करमूल, सहजना आदिके लेपसे स्थानिक प्रभाव दृष्टिगत होता है। ऐसा असर चाहे रसके कारण हो, चाहे वीर्यके कारण हो, चाहे विपाकके कारण हो। तब वह सामान्य प्रभाव कहा जायगा। किन्तु जब विशिष्ट प्रकारका अचिन्त्य प्रभाव हो तब वह असली प्रभाव कहावेगा।

दूसरा सांस्थानिक प्रभाव-ओषधिके रक्तमें मिलनेपर होता है। इस प्रभावका सम्बन्ध प्रयोगस्थान तथा प्रयोगमार्गके स्थानपर नहीं बल्कि कहीं दूर किसी विशिष्ट संस्थानपर होता है। उस संस्थानके समूचे अंग इससे प्रभावित होते हैं। गांजरका हिम पिलाया जाय या पुनर्नवाष्टक क्वाथ पिलाया जाय तो आंतमें ओषधिके जाने पर भी असर वृक्कों पर या शोथ स्थानपर दृष्टिगत होगा। नाभीपर कलमी-शोराका लेप करनेसे मूत्र स्थानपर प्रभाव दीखेगा। एरण्डतैल या दन्तीमूलका असर रेचनकार्यमें होगा। वृष्यौषधियोंका असर प्रजनन संस्थानपर होगा। कभी कभी किसी औषधका असर एकसे अधिक स्थानपर होता है। कुछ द्रव्य ऐसे हैं जो वमन भी कराते हैं और विरेचन भी। यह सांस्थानिक प्रभाव या असरका वर्णन हुआ। श्रीमहेन्द्रकुमारशास्त्रीजीने इस सम्बन्धका वर्णन एक निबन्धमें अच्छा किया है।

ओषधि प्रभावकी दो और समस्याएं हैं। एकको प्रारम्भिक प्रभाव और दूसरीको पाकीय प्रभाव कहते हैं। प्रारम्भिक प्रभाव ओषधिके देह-धातुके सम्पर्कमें आते ही अपरिवर्तितरूपमें उत्पन्न होता है। लालमिर्चा जीभमें रखते ही झनझनाहट लायेगा और आँतमें पहुँचते ही जलन आरम्भ कर देगा। यह प्रभाव द्रव्यके रस और वीर्यके कारण होता है। 'रसो निपाते द्रव्याणाम्'का वर्णन वीर्य प्रकरणमें

हो चुका है। दूसरा पाकीयप्रभाव ओषधि सेवनके कुछ समय पश्चात् उसके अवस्था-पाक या विपाककालमें होता है। चरक में कहा गया है—

किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन॥

ओषधिका कोई असर रसगुणसे, कोई वीर्यकी शक्ति, से कोई द्रव्यगुणसे, कोई द्रव्यके विपाक-प्रभावसे और कोई द्रव्यके अचिन्त्यशक्ति प्रभावसे होता है। चन्दनका तेल पाकके पश्चात् जब मूत्रमार्गसे निकलता है तब मूत्रके संक्रमणको नष्ट कर देता है। शरीरमें पैत्तिक क्रियाओंका प्रभाव ग्रहण, सात्मीकरण और पाचनके रूपमें होती है। वातिकक्रियाएँ गत्यात्मक और प्रेरणारूपसें होती हैं तथा कफात्मक क्रियाएं रचनात्मक और संरक्षणात्मक रूपसें होती हैं। विरेचनद्रव्य पृथ्वी और जलतत्वके कारण भारी होते हैं अत एव मलको नीचे लाकर विरेचन कराते हैं। वमनद्रव्य अग्नि और वायुगुणभूयिष्ठ होते हैं। अत एव ऊर्ध्वगामी होकर वमन कराते हैं। संशमनद्रव्य आकाशगुणभूयिष्ठ होनेसे दोषोंका संशमन करते हैं। संग्राही द्रव्य वायुगुणभूयिष्ठ होनेसे शोषणात्मककार्यसे संग्राही होते हैं। दीपनद्रव्य अग्निगुणभूयिष्ठ होनेसे अग्निको बढ़ाते हैं। उत्तेजनात्मक ओषधियां उष्णवीर्य होनेके कारण शरीराणुओंकी कर्मशक्ति बढ़ाती हैं। क्षिप्रग्राही द्रव्य कुछ विशिष्ट धातुओंकी ग्रहणशक्तिको तीव्र करते और अल्पशक्तियुक्त उत्तेजकोंसे भी उत्तेजित हो जाते हैं। क्षोभजनक उत्तेजकोंके प्रयोगसे कभी-कभी शोथ हो जाता है; किन्तु इससे क्रियामें परिवर्तन न होकर प्रायः रचनात्मक शारीरिक परिवर्तन होता है। ऐसी ओषधियां वातकेन्द्रोंपर अपनी क्रिया करती हैं, कभी सारे शरीरपर, कभी विशेष अंगपर, विशेषकर हृदय, मांसपेशी, नाड़ियों और स्रावग्रन्थियोंपर प्रभाव डालती हैं। कुछ ओषधियां थोड़ी मात्रामें तो उत्तेजक और अधिक मात्रामें अवसादक प्रभाव डालती हैं। विषद्रव्य थोड़ी मात्रामें उजक और अधिक मात्रामें अवसादक होते हैं। शारीरिक कोषोंमें ग्राहक शक्तिको उत्पन्नकर उनकी क्रिया-शीलता घटानेसे अवसाद होता है। प्रभावकी अचिन्त्यशक्ति अभी एक समस्या है तथापि कुछ उदाहरणों द्वारा उसका विवरण दिया जा सकता है।

प्रभावका विवरण—

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रभाव द्रव्यकर्मकी एक अचिन्त्यशक्ति है। अत एव उसके गूढ़ रहस्यका उद्घाटन अभी विशेषरूपसे होना सम्भव है। परन्तु कुछ उदाहरणों और विवरणों द्वारा उनकी जानकारी की जा सकती है। जैसे मधु अपने कषायरसके कारण पित्तका शमन करता है, यह रसके द्वारा कार्यसम्पादन हुआ। वही मधु कटुविपाकके कारण कफका नाश करता है, यह विपाकके द्वारा

कार्यसम्पादन हुआ। कुछ द्रव्य गुणान्तरसे अर्थात् अन्योन्यगुणकी विकृतिके कारणसे गुरु, उष्ण, शीतादिके द्वारा कार्य सम्पादन करते हैं। जैसे खट्टी कांजी अपनी रूक्षताके कारण कफका नाश करती है। कुछ पदार्थ अपने वीर्यके द्वारा कार्य सम्पादन करते हैं। जैसे कषाय-तिक्तरस सम्पन्न बृहत्पंचमूल अपने रसगुणके अनुकूल पित्तका नाश न कर उष्णवीर्य होनेके कारण वायुका नाश करता है। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो कारण परम्परा न होनेपर भी अपनी किसी विशेषशक्तिके द्वारा वह काम करते हैं जो न तो उनके रसके, न वीर्यके और न विपाकके गुणके ही अनुकूल होते हैं। जैसे अम्लरस और उष्णवीर्य होनेपर भी शराब पीनेसे दूधकी वृद्धि होती है। इसी तरह चीताका रस कटु है, विपाक भी उसका कटु है और वीर्यमें उष्ण है, दन्तीमूल रसमें कटु, विपाकमें कटु और वीर्यमें उष्ण है; परन्तु दन्तीमूलका सेवन करनेसे विरेचन होता है और चित्रकके सेवनसे नहीं होता। इसका कारण क्या कहा जाय ? सिवाय इसके कि यह दन्तीका खास प्रभाव है।

कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः।
तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम् ॥

इसी तरह मुलेठी और मुनक्केका रस-वीर्य और विपाकमें समान है, तो भी मुनक्का रेचक है और मुलेठी नहीं है। दूध और घीका रस-वीर्य-विपाक समान है; परन्तु घृत अग्निदीपक है और दूध अग्निदीपक नहीं है; यह सब गुणभेद प्रभावके ही कारण है।

दन्तीरसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी।
मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम् ॥

'विषस्य विषमौषधम्' के न्यायसे विषपर विषकी ही दवा देनेसे विषका नाश होता है। किसी जंगमविषपर स्थावर विषका प्रयोग करनेसे उस विषका नाश होता है। किसीको सांप या बिच्छू काटनेपर कोई विषैली वनस्पतिके लगाने या खिलानेसे विष उतरता है। इसका कारण प्रभाव ही है; क्योंकि विषपर विष-देनेसे साधारणतः विषकी वृद्धि होनी चाहिये थी, वैसा न होकर विशेष ही गुण दिखाई पड़ा।

विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम्।
ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम् ॥

कोई कोई ओषधियां उभयमार्गी होती हैं। अर्थात् उसी ओषधिको देनेसे वमन भी होता है और उसीको देनेसे विरेचन भी होता है। इसका भी कारण प्रभाव ही है। शरीर पर नीलम, पन्ना, माणिक आदि रत्न धारण करनेसे तथा मन्त्रौषधिसे विषका नाश होता है, शूल मिटता है। यह भी प्रभावका ही कारण है।

मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्।
तत्प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ॥
मणिमन्त्रौषधीनां च यत्कर्म विविधात्मकम्।

प्रभावकी शक्ति अचिन्त्य है, अतर्क्य है, उसका कोई क्रम या कोई संगति नहीं बैठायी जा सकती।

यह कहा जा सकता है कि जो कर्म रसादि-परम्परासे विशिष्ट प्रकाशित हो उसे प्रभावके कारण समझना चाहिये। इसके कई उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

लहसुन कटुरसके कारण और कटुविपाकके कारण कफनाशक है और अपनी स्निग्धता तथा गुरुताके कारण वातनाशक है। वही लहसुन अपने प्रभावके कारण-कटु विपाकके कारण वातकारक नहीं है और स्निग्धताके कारण कफकारक भी नहीं होता।

कटुपाक-रस स्निग्ध-गुरुत्वैः कफवातजित्।
लशुनो वातकफकृन्न तु तैरेव यद्गुणैः ॥

इस प्रकार लहसुनका कटुरस और विपाक अपने द्रव्यप्रभावके कारण पर्याप्त कफनाशक है। परन्तु कटुरस और कटुविपाक होनेपर भी प्रभावके कारण वातकारक नहीं है। इसी तरह लहसुनका स्निग्धत्व और गुरुत्वगुण द्रव्यप्रभावसे वातनाशनके लिये पर्याप्त है परन्तु श्लेष्मोत्पादनमें समर्थ नहीं है।

परस्पर विरुद्ध गुणवाले वात-पित्त और कफ तीनों दोषोंको लाल चावल नष्ट करता है। परन्तु जई आदि तृण धान्य वैसे ही रस-वीर्य-विपाकवाले होनेपर भी तीनों दोषोंको उत्पन्न करते हैं—

मिथो विरुद्धान् वातादीन् लोहिताद्या जयन्ति यत्।
कुर्वन्ति यवकाद्याश्च तत् प्रभावविजृम्भितम् ॥

रक्तशालिमें यह त्रिदोषनाशक गुण स्निग्धता और गुरुताके कारण है। यवक स्निग्ध और गुरु होनेपर तीनों दोषोंको बढ़ाते हैं प्रभावके कारण।

शिरीष—सिरस और हारिद्रक विषको नष्ट करते हैं। किन्तु निद्रा और मेघगर्जन विषको बढ़ाते हैं। यह भी प्रभावका ही कर्म है—

शिरीषादि विषं हन्ति स्वप्नाद्यं तद्विवृद्धये।

—०—

द्रव्यादिकी प्रधानता

द्रव्यकी प्रधानता

रस-वीर्य-विपाक और प्रभाव विषय प्रधान होनेके कारण अपने-अपने विषयमें अलग-अलग स्वयं अपनी-अपनी बहुत कुछ विशेषता और श्रेष्ठता रखते हैं; तथापि

ये सब द्रव्यके आश्रित रहते हैं, इसलिये द्रव्यकी प्रधानताका ख्याल अवश्य रखना चाहिये। पुराने जमानेमें भी इस विषयपर बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है और सुश्रुतमें उसका उल्लेख भी है—

पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः।
चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः॥
तद्द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम्।
किंचिद्रस-विकाराभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥ (सु. सू. अ. ४०)

मणि-मन्त्र और ओषधियोंके धारणसे अनेक प्रकारके अद्भुत कर्म-प्रभाव देखे जाते हैं। शल्योंका आकर्षण, पुत्रोत्पादन, राक्षसादि और कीटाणुओंसे रक्षा। रसायनोंसे आयुष्यकी वृद्धि, शंखपुष्पीसे मेधाशक्तिकी वृद्धि, मन्त्रादिसे वशीकरण, मारण, उच्चाटन, अगद दर्शनसे विषका नाश, वाजीकरण द्रव्योंसे शीघ्र शुक्रकी उत्पत्ति, मदनफलसे वमन, हरीतकीसे विरेचन, आंवलेसे तीनों दोषोंका शमन, यह सब प्रभावके कर्म हैं।

मणिमन्त्रौषधीनां च यत् कर्म विविधात्मकम्।
शल्याहरण-पुंजन्म-रक्षायुर्धीवशादिकम्॥
दर्शनाद्यैरपि विषं यन्नियच्छति चागदः।
विरेचयति यद्वृष्यमाशु शुक्रं करोति वा॥
ऊर्ध्वाधोभागिकं यच्च द्रव्यं यच्छमनादि च।
मात्रादि प्राप्य तत्तच्च यत् प्रपञ्चेन वर्णितम्।
तच्च प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्यः स उच्यते॥
रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्यं विपाकेन च यद्विदध्यात्।
सद्योऽन्यथा तत् कुरुते प्रभावाद्धेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति॥

मात्राभेदसे अनुपानभेदसे जो विचित्र कर्मफल देखे जाते हैं उन्हें भी प्रभाव ही समझना चाहिये। गाय-बैल-भैंस आदि किसी जानवरके शरीरमें कहीं भी कीड़े पड़ गये हों तो उसके सींगमें औंधापुष्पी बांध दें। तो कीड़े आपसे आप गिर जायेंगे। तीन महीनेके भीतर गर्भवती स्त्रीको नित्य पलाशपीपलके फलके बीज तीन दिनों तक खिलाइये पुत्र ही पैदा होगा। बच्चा पेटमें अटक गया हो तो स्त्रीके कमर और गलेमें अपामार्गकी जड़ बांध दें या कलिहारीकी कन्दका योनिके ऊपर लेप कर दें तो बच्चा हो जायगा। बच्चा होनेके बाद यदि खेड़ी न गिरती हो तो हाथकी हथेलीपर कलिहारीकी कन्द पीसकर लेप कर दें, खेड़ी गिर जायगा। असली जवाहरमोहरा खाकर नीमकी पत्ती खाइये तो कडुवापन नहीं मालूम पड़ेगा।

गुडमारकी पत्ती खाकर गुड़ या चीनी खाइये तो मीठापन नहीं मालूम पड़ेगा। शुद्ध अकीकका गोल टुकड़ा किसी कपड़ेमें लपेट कर उसके ऊपर जलता अङ्गार रखें तो कपड़ा नहीं जलेगा। जामुनकी गुठलीसे न तो रक्तकी शर्करा कम होती और न मूत्रकी, किन्तु प्रभावसे वह मधुमेहके लिये लाभदायक होती है। वसन्तकुसुमाकरके साथ गुडमार बूटीका प्रयोग कीजिए, तीन दिनमें मधुमेहकी शर्करा कम होगी। यह सब प्रभावके ही विचित्र खेल हैं। चिन्त्य शक्ति तो द्रव्योंके गुणोंकी शक्ति है और अचिन्त्य शक्ति द्रव्यगत कर्मोंकी वह शक्ति है जिसका मेल रस-वीर्य-गुण या विपाकसे न लगाया जा सके। द्रव्योंके पाञ्चभौतिक सङ्गठन-गुण-रस-विपाक आदि द्वारा जिसका सम्बन्ध निश्चय न किया जा सके वही प्रभाव है। सुश्रुत कहते हैं—

> अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः।
> आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः॥
> प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
> नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कदाचन॥
> सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्।
> तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु॥ (सु. सू. अ. ४०)

अर्थात्-जिन द्रव्योंकी कार्यकारिणी शक्ति युक्ति और तर्कसे सिद्ध नहीं होती तथा जो विरेचकत्व, स्तम्भकत्व, विषहरत्व आदि अपने स्वभावसे ही शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, उन द्रव्योंका उपयोग व्यवहारकुशल वैद्य शास्त्रके आधारपर ही करे। जो अमीमांस्य हैं, विचारमें आने योग्य नहीं हैं, अचिन्त्य हैं-जिनकी चिन्तना करनेसे कारण-परम्परा समझमें नहीं आ सकती, उनके लिये आगम-वचन ही प्रमाण है। जो ओषधियां अपने स्वभावसे ही अचिन्त्य हैं उनके प्रभाव चमत्कार आगमप्रमाणसे करके ही देखना चाहिये। शास्त्रोक्त प्रत्यक्ष लक्षण, फल और हिताहित-दर्शनपूर्वक व्यवहार करनेसे ही वे प्रत्यक्ष फल दिखाती हैं। अम्बष्ठादि गणकी ओषधियां अतीसारनाशक, सन्धानक और व्रणरोधक हैं। क्या वे हजारों तर्क और युक्तियोंसे विरेचक हो सकेंगी? चुम्बक लोहेका आकर्षण करता है, विष ही विषनाशक होता है, इसमें तर्क करना व्यर्थ है। अतएव बुद्धिमान वैद्यको उचित है कि अचिन्त्य और प्रत्यक्ष फलवाली ओषधियोंके विषयमें शास्त्र-वचनोंपर विश्वास रख उनका प्रयोग करें। युक्ति और तर्कसे परम्परा-सिद्ध विषयोंका ही विचार हो सकता है अतर्क्य विषयोंमें तर्क भिड़ानेका प्रयास न करें। हमारा यह रस-वीर्य-विपाक और प्रभावका विज्ञान आयुर्वेदका महत्त्व प्रकट करनेवाला और वैद्योंका शिर ऊँचा करनेवाला है। इस विज्ञानका प्रचार प्रत्येक वैद्यमें होना अभीष्ट है।

कुछ आचार्योंका मत है कि द्रव्य प्रधान है; क्योंकि द्रव्यकी परिस्थिति व्यवस्थित, स्थिर और दृढ़ होती है; रसादिकी अवस्था स्थिर नहीं होती। जैसे कच्चे आमका स्वाद कषायाम्ल, जाली पड़े हुए आमका स्वाद अम्ल और मीठे आमका स्वाद मधुर होता है। परन्तु पदार्थोंमें ऐसा परिवर्तन नहीं होता कि वही फल कभी आम है तो कभी आमड़ा या सीताफल हो जाय। दूसरी बात यह कि द्रव्य नित्य है; परन्तु रस-गुण-वीर्यादि अनित्य हैं। क्योंकि एक ही द्रव्यके कल्क, स्वरस, फाण्ट, क्वाथ आदि कई विभाग होते हैं और उनके रस और गन्धमें भी अन्तर आ जाता है; परन्तु अवस्थान्तर होनेपर भी उस द्रव्यमें अन्तर नहीं आता; वह वहीका वही बना रहता है। वही द्रव्य वसन्त ऋतुमें खोदा जाय तो उसमें और गुण होता है, हेमन्तमें खोदा जाय तो उसमें गुणकी अधिकता होती है। ग्रीष्ममें खोदकर लाया जाय तो वह निस्सार, अल्प शक्तिवाला होता है; परन्तु द्रव्यमें फिर भी कोई अन्तर नहीं आता। तीसरी बात यह कि द्रव्य अपनी जाति कायम रखता है। जो पार्थिव है वह पार्थिव ही रहता है, कभी जलीय या वायवीय नहीं बन जाता, रसादि की अवस्थाभेदसे जातिव्यवस्था बदल जाती है। चौथी बात यह है कि द्रव्य पञ्चेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होता है, उसे हम देख सकते, पकड़ सकते और चीख सकते हैं। रसादिकोंको न तो हम देख सकते, न उनका आकार-प्रकार ध्यानमें ला सकते और न अलग उनका स्वाद ही ले सकते हैं। पांचवीं बात यह कि द्रव्य आधार अथवा आश्रयस्थान है और रसादि आधेय अर्थात् उसके आश्रयमें रहनेवाले आश्रित हैं, ये सब द्रव्यके अधीन हैं। छठवीं बात यह है कि सम्पूर्ण क्रियाओंका आरम्भ द्रव्यसे ही होता है। जैसे कूटना, पकाना, फूँकना आदि क्रिया द्रव्यको छोड़ रसादिकी नहीं होती है। सातवीं बात यह कि शास्त्रमें भी द्रव्य ही प्रधान है। शास्त्रमें जो पाठ हैं वह नीबू, अरनी आदि द्रव्योंका ही उल्लेख करते हैं, रसादिका नहीं। आठवीं बात यह कि रसादिगुणोंका क्रम द्रव्यके अधीन रहता है, जैसे—वनस्पतिकी कोमलावस्थामें रस-गुण-वीर्यादि अपूर्ण अवस्थामें रहते हैं और पक्वावस्थामें पूर्णता पाते हैं, इनकी परिणति स्वतन्त्र रूपसे नहीं होती। नवीं बात यह है कि द्रव्यके एक अङ्गसे भी चिकित्सा हो सकती है। जैसे थूहरके दूधसे ही उदर चिकित्सा हो जायगी; परन्तु रसादिका कुछ भाग अलग ग्रहण नहीं किया जा सकता। द्रव्यके लक्षण—क्रिया-कर्म-गुणके समान होते हैं और तदनुरूप ही उनका समवायिकारण भी होता है। जैसे वस्त्रका समवायिकारण तन्तु, घड़ेका समवायिकारण मिट्टी उसके साथ है; परन्तु रसादिमें यह बात प्रत्यक्ष नहीं। इन सब कारणोंसे द्रव्य प्रधान है।

रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव-गुण और कर्म इन छहोंका निवास द्रव्यमें ही रहता है। इन छहोंका द्रव्यमें अविनिर्भागरूपसे निवास है और द्रव्यके द्वारा ही वे एक

दूसरे पर अनुग्रह करते हैं, सहायक होते हैं। जहां द्रव्य होगा वहीं गुण होंगे, गुणोंके कर्म होंगे, रस होगा, विपाक होगा, वीर्य और प्रभाव होगा। द्रव्यके गुण रसके सहचारी बनकर, वीर्य-शक्ति प्रकाशन द्वारा, विपाक परिणाम द्वारा, कर्म संयोग साधक होता है। यह ठीक है कि मुख्य विषयके रूपमें द्रव्यकी चर्चा हो वहां द्रव्यकी प्रधानता होगी; किन्तु जब चर्चा रसकी या वीर्यकी, या विपाककी अथवा प्रभावकी हो तब अपने विषयमें उनकी ही प्रधानता होगी। वहां द्रव्यकी अप्रधानता हो जायगी। क्योंकि द्रव्य भी तो आखिर इनके विना अपनी विशेषता प्रकाशित नहीं कर सकता।

द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्, गुणप्रभावाद्, द्रव्य-गुणप्रभावाच्च कार्मुकाणि भवन्ति। (च० सू० अ० २६)

यहां पर गुण शब्दसे रस-वीर्य-विपाकादि गुणोंका ग्रहण है। द्रव्य पंचमहाभूतविकार विशेषसे अन्न-पान-भेषजरूपसे पांचभौतिक शरीरके धातुवैषम्यरूप दोषविकारोंकी, धातुसाम्यरूप दोषविकारोपशमनकी अथवा समवायिकारणसे कर्तृत्वकी व्यवस्था करता है। उसीके आश्रय हो द्रव्यशक्तिरूप प्रभाव, रस-वीर्य-विपाक यथायोग निमित्त कारणसे अथवा समवायिकारणसे पूर्ति करते हैं। किन्तु यह कार्यपूर्ति रस-वीर्य-विपाकादिकी सहायतासे ही होती है द्रव्य कभी अपना रस द्वारा, कभी वीर्य द्वारा, कभी विपाक द्वारा और कभी प्रभावद्वारा सम्पादित करता है। अष्टांगसंग्रहकार कहते हैं—

किंचिद्रसेन कुरुते कर्म पाकेन चापरम्।
द्रव्यं गुणेन वीर्येण प्रभावेणैव किंचन॥
यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्तेन वर्तते।
अभिभूयेतरांस्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते॥
विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते
रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति॥
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्। (अ. सं. सू. अ. १७)

अर्थात्-द्रव्य कुछ कार्य रसके द्वारा करता है, जैसे मधु अपने कषायरससे पित्तका शमन करता है। कुछ कर्म वीर्यसे करता है, जैसे कषाय और तिक्तरसवाला बृहत्पंचमूल अपने उष्णवीर्यके द्वारा वायुका शमन करता है; किन्तु पित्तका शमन नहीं करता। कुछ कर्म रस-वीर्यके व्यतिरिक्त गन्ध-स्थिर आदि गुणोंसे करता है, जैसे खसका इत्र निद्रा ले आता है। कुछ कर्म विपाकसे करता है जैसे सोंठ कटु रसवाली होनेपर भी अपने मधुरविपाकसे वायुका शमन करती है। इसी प्रकार द्रव्य कुछ कार्य प्रभावसे करता है जैसे दन्ती कटुरस, कटुविपाक और उष्णवीर्य

होनेपर भी अपने प्रभावसे विरेचन लाती है। इस प्रकारके कार्य करनेमें रस-वीर्य-विपाक और प्रभावमें जो बलवान होता है, वह दूसरे दुर्बलका पराभव कर अपना कार्य कर दिखलाता है क्योंकि जहां विरुद्ध गुणोंका संयोग होता है, वहां बलवानके द्वारा दुर्बलका पराभव होता है परन्तु जहां रस-वीर्य-विपाक और प्रभाव समान बलवाले होते हैं वहां अपने नैसर्गिक (स्वाभाविक) बलसे विपाक रसका, वीर्य विपाक और रस दोनोंका तथा प्रभाव रस-विपाक-वीर्य तीनोंका पराभव करके अपना कार्य करता है। ऐसी दशामें सभीका महत्व है और सभीका परिचयात्मक वर्णन होना चाहिये।

रसकी प्रधानता

ऊपरके वर्णनसे स्पष्ट है कि रसादिकी श्रेष्ठता और उपयोगिता कम नहीं हो सकती। कुछ आचार्य तो यहां तक कहते हैं कि नहीं रस ही प्रधान है। क्योंकि रसकी प्रधानता आगमसिद्ध है। शास्त्रोंमें लिखा हुआ है कि आहार रसोंके ही अधीन है और आहाररसके ही अधीन प्राण है। दूसरी बात यह कि उपदेश द्वारा भी रसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है; क्योंकि शास्त्रोपदेश है कि मधुर-अम्ल और लवणरस वायुका नाश करते हैं और अन्य रस वायुको बढ़ाते हैं; इत्यादि जो प्रत्यक्षमें भी प्रमाणित है।

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥

तीसरी बात यह कि अनुमानसे रसकी श्रेष्ठता सिद्ध है। क्योंकि किसी पदार्थकी पहचान रसके द्वारा ही होती है। जैसे नींबू खट्टा होता है, कैथा कसैला होता है इत्यादि। चौथी बात यह कि ऋषिवचनोंसे भी (ऋषि वचनही वेद हैं) रसोंकी श्रेष्ठता सिद्ध है। वेदमें यज्ञ सामग्री गिनाते समय कहा जाता है यज्ञके लिये मीठा लाओ। इन बातोंसे रसप्रधान है और रसादिकी ही गुण संज्ञा है। चरक चिकित्सास्थान अध्याय १६ में मिट्टियोंका वर्णन करते हुए लिखा है—'कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम्, कोपयेन्मृद्' अर्थात् कषैली मिट्टी वायुको प्रकुपित करती है। ऊसरकी मिट्टी पित्तको बढ़ाती है और मीठी मिट्टी कफको बढ़ाती है। कोई-कोई द्रव्य तो अपने रस-वीर्य-विपाक और प्रभावसे अलग-अलग कार्य करते हैं जैसे आंवला त्रिदोषनाशक है।

हन्ति वातं तदम्लत्वात्, पित्तं माधुर्यशैत्यतः। कफं कषायरूक्षत्वाद्'।

इसी तरह गुडूची तिक्तरसके कारण पित्त और कफका नाश करती है, उष्णवीर्यके द्वारा वातनाशक है, मधुरविपाकके कारण वृष्य है और प्रभावके द्वारा वातरक्त, आमविकार नष्ट करती है किसी द्रव्यमें जो रस होता है, यदि

विपाकमें भी वही हुआ तो वह बलवान होकर अपना कर्म करता है। किन्तु जहां द्रव्यरस और विपाकरस भिन्न होता है वहां प्रायः विपाक रस अपना प्रभाव दिखलाता है, जैसे तिक्तरस पित्तनाशक है; किन्तु विपाकमें कटु होने पर वह पित्तवर्धक हो जायगा। तिक्तरस अपना कार्य विपाक होनेके पहले ही करसकेगा। विपाकके बाद उसके द्वारा कटु कर्मका सम्पादन होगा। विरुद्ध गुण संयोगसे अर्थात् विरुद्धगुण समवेत द्रव्यसंयोग होने पर (दो अथवा अधिक द्रव्योंके संहतीभावको संयोग कहते हैं।) जो बलवान होता है वह निर्बलको दबा लेता है। जैसे दूध शीतवीर्य होनेपर भी मधुर रस और उक्त गुणकी सहायतासे बलवान होकर अपने कर्म वातप्रकोपताको न कर वातशमन करता है। जहां पर रसादिका उत्कर्ष न होकर परस्पर साम्य रहता है वहां रससे विपाकका प्रभाव अधिक पड़ता है। जैसे मधुर रसके कारण मधुको वातनाशक होना चाहिये किन्तु कटु विपाकसे मधुररस बलहीन हो गया और वह वातप्रकोपक हो गया। भैंसका मांस मधुररस और मधुर विपाक होनेके कारण पित्तनाशक होना चाहिये परन्तु उष्णवीर्य होनेके कारण रस और विपाक दोनोंको दबाकर पित्तको दूषित करनेवाला होता है।

वीर्यकी प्रधानता

कुछ आचार्य वीर्यको भी पीछे नहीं रखना चाहते। वे कहते हैं, नहीं, वीर्य ही प्रधान है; क्योंकि ओषधिकी कार्यशक्ति वीर्य पर ही निर्भर है। पदार्थोंमें ऊर्ध्वगामी, अधोगामी, उभयगामी, संशोधन, शमन, संग्राहिका, अग्निदीपन, प्रपीडन, लेखन, बृंहण; रसायन, वाजीकरण, शोथोत्पादन, विलयन, दहन, दारण, मादन, प्राणघ्न, विषशमन आदि क्रिया करनेकी शक्ति वीर्यकी प्रधानतासे ही होती है। फिर वह वीर्य चाहे आप उष्णवीर्य और शीतवीर्य दो प्रकारका मानें और चाहे उष्ण-शीत-स्निग्ध-रूक्ष- विशद-पिच्छिल-मृदु-तीक्ष्ण नामसे आठ प्रकारका मानें। गुडूची-तिक्तरस होनेके कारण वातवर्धक होना चाहिये; परन्तु उष्णवीर्य होनेके कारण गुडूची वातनाशक है। महिषमांस मधुररस मधुरविपाक होते हुए भी पित्तका शमन न कर उष्णवीर्य होनेके कारण पित्तवर्धक है जैसे बृहत्पंचमूल कषायरस और तिक्त अनुरसवाला होने पर भी वायुको न बढ़ाकर उष्णवीर्य होनेके कारण वायुको शान्त करता है। कुलथी कषायरस होते हुए भी उष्णवीर्य होनेके कारण वायुका शमन करती है। और प्याज कटुरस होकर भी स्निग्ध गुणसम्पन्न होनेसे वायुको न बढ़ाकर शान्त करते हैं। मधुर रसवाली होने पर भी ऊख वायुको न बढ़ाकर शीतवीर्य होनेके कारण वायुको बढ़ाती है। कटु पिप्पली पित्तको न बढ़ाकर मृदु और शीतवीर्य होनेके कारण पित्तका शमन करती है। इसी तरह खट्टा अनार और

आँवला पित्तवर्धक होनेके बदले शीतवीर्य होनेके कारण पित्तशामक है और लवण-रस सैंधव शीतवीर्य होनेसे पित्तको शान्त करते हैं। तिक्तरसवाली होकर भी मकोय पित्तको उष्णवीर्य होनेके कारण बढ़ाती है। अर्क-अगुरु-गुडूची तिक्तरस और कटुवीर्य होने पर भी निपात और अधिवासकालमें अपने उष्णवीर्यके गुणोंका ही सम्पादन करते हैं। मछली आदि अनूपदेशीय जलजीवोंका मांस मधुररस और मधुर विपाक होकर भी उष्णवीर्य होनेके कारण पित्तको बढ़ाता है। मूली कटुरस होकर भी स्निग्ध होनेके कारण कफको बढ़ाती है। खट्टा कैथा रूक्ष होनेके कारण कफको शान्त करता है। शहद मीठा होकर भी कटुविपाक और रूक्ष होनेके कारण कफको शान्त करता है, रसप्रभावसे रक्तपित्तको नष्ट करता है, लघु-रूक्षादि गुणसे वातकी वृद्धि करता है, शीतवीर्यसे तृषा शान्ति करता है और प्रभावसे विषको बाधा मिलता है। इसके लिये प्रमाण है—

ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
रौक्ष्यालाघवशैत्यानि न ते हन्युः समीरणम् ॥
ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
तैक्ष्ण्यं च लघुता चैव न ते तत्कर्मकारिणः ॥
ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
स्नेहगौरवशैत्यानि बलासं वर्धयन्ति ते ॥

अर्थात्-जो रस वायुको शान्त करनेवाले हैं, यदि उनमें रूक्षता-लघुता गुण और शीतवीर्यता हो तो वे वायुको शान्त नहीं कर सकते। इसी तरह जो रस पित्तको शान्त करनेवाले तो हैं; किन्तु वे यदि तीक्ष्ण और लघु गुणवाले तथा उष्णवीर्य हों तो वे पित्तको शान्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। इसी तरह जो रस कफको शान्त करनेवाले तो हैं; परन्तु वे यदि स्निग्ध और भारी गुणवाले तथा शीतवीर्य हों तो वे कफको शान्त न कर उलटा बढ़ानेवाले होंगे। इन बातों का विचार करनेसे वीर्यकी प्रधानता मालूम पड़ती है।

विपाककी प्रधानता

कुछ आचार्य कहते हैं, नहीं इन सबोंमें विपाक ही प्रधान है। क्योंकि कोई पदार्थ किसी गुण या रसवाला क्यों न हो यदि उसका ठीकसे विपाक हुआ (वमनकारी पदार्थोंको छोड़कर) तो अन्य रस या गुण या वीर्यका भी प्रभाव दिखाई पड़ेगा और उससे यथेष्ट लाभ भी पहुंच सकेगा; किन्तु यदि उसका विपाक ठीक न हो—मिथ्या विपाक हो तो रस-गुण-वीर्यकी शक्ति धरी ही रहेगी और उससे लाभ न होकर हानि ही पहुंचेगी अर्थात् दोषवृद्धि होगी। अत एव विपाक प्रधान है।

इस प्रकार अपने अपने पक्षमें इनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है और समयानुसार सबका महत्त्व है भी तथापि यह मानना ही होगा कि द्रव्य ही इन सबोंमें प्रधान है। क्योंकि धन्वन्तरि जी कहते हैं—

पाको नास्ति विना वीर्याद्वीर्यं नास्ति विना रसात्।
रसो नास्ति विना द्रव्याद् द्रव्यं श्रेष्ठमतः स्मृतम्॥

विपाक अपने कार्यमें प्रधान होने पर भी बिना वीर्यके विपाक नहीं हो सकता, वीर्यमें कर्तृत्वशक्ति होने पर भी बिना रसके वीर्यकी सिद्धि नहीं होती, रसभी बिना द्रव्यके किसके आश्रयमें रहेगा; इसलिये द्रव्यकी प्रधानता तो बनी बनायी है। द्रव्य और रसका जन्म एक दूसरेके सहारे होता है। जैसे आत्माके बिना शरीर व्यर्थ है और शरीरके बिना आत्माको आश्रयस्थान नहीं मिल सकता। उसी तरह द्रव्यके बिना रस नहीं प्रकट हो सकता और रसके बिना द्रव्यकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। बीसों सूक्ष्मादि गुण (जिनमें आठ शक्तिशाली होनेसे मतान्तरसे वीर्य तक माने जाते हैं) भी द्रव्यके ही अधीन हैं, उसीके अंग हैं, ये गुण रसोंमें तो रह नहीं सकते, क्योंकि रस भी तो गुण ही है, फिर गुणमें गुण कैसे रहेंगे? पंचतत्त्वात्मक द्रव्योंका ही पचन होता है, रस अलग जाकर नहीं पचते, आहार-द्रव्य ही पचते हैं। अत एव द्रव्य प्रधान है और ये सब गुण उसके आश्रित सहायक हैं। ऐसा होते हुए भी अपने-अपने विषयमें सबकी प्रधानता है। अत एव विपाककी भी प्रधानता है। रसकी अपेक्षा विपाककी शक्तिमत्ता और प्रधानता अधिक है। द्रव्यमें रसकी प्रधानता है और इसमें विपाकरसकी प्रधानता अधिक है। जैसे शुण्ठी कटुरसका कार्य तभी तक करती है जब तक उसका महास्रोतसोंके भिन्न-भिन्न अंगोंमें परिपाक चलता रहता है। किन्तु जब उसका विपाक मधुर-रूपमें हो जाता है तब मधुर विपाकके अनुरूप उसका कार्य होता है। अर्थात् विपाक रसका कर्मफल पचनानन्तर लक्षणों द्वारा दृष्टिगत होता है। अतएव मधुर विपाकके कारण वृष्या होती है। आमलकी अम्ल होते हुए भी मधुर विपाकके कारण पित्तशामक होती है। गुडूची तिक्तरसवाली होनेपर भी मधुरविपाकके कारण वृष्यगुणवाली होती है। रस और विपाक जब समान होते हैं तब अपने अनुकूल द्रव्य प्रकट करनेमें समर्थ होते हैं। किन्तु जब रस अलग और विपाक अलग दूसरा होता है तब विपाक रसको दबाकर अपना काम करता है। तिक्तरस स्वयं पित्तशमन करनेवाला है, किन्तु उसका विपाक कटु है अतएव यह पित्त-शमनका कार्य तभी तक करेगा जबतक उसकी स्थिति आंतोंमें है। इसके पश्चात् विपाकके अनुसार वह पित्तवर्धक हो जायगा।

प्रभावकी प्रधानता

जिसका नाम ही प्रभाव है, उसके प्रभावको क्या कहना ? जिसकी शक्ति अचिन्त्य है। जिसके कर्म विशिष्ट हैं, जिसके कर्मोंकी मीमांसा नहीं हो सकती उस प्रभावकी प्रधानता तो स्वयं सिद्ध है। आहार और ओषधि द्रव्योंके उपयोगों और कार्यकी मीमांसा उनके पञ्चतत्त्वात्मक संगठन और रस-वीर्य-विपाककी सहायतासे की जाती है। जहां वीर्य-विपाककी परम्परा क्रमानुगत संगतवार होती है वहां उनके गुणोंका विचार सरल होता है; किन्तु जहां द्रव्यकी अद्भुतकर्मशक्तिका पता क्रमबद्ध गुणान्वेषणसे नहीं होता वहां उसे अचिन्त्य, अमीमांस्य कहकर गुणान्वेषण तक ही सन्तोष करना पड़ता है। रस-वीर्य-विपाक परम्परासे विचार न हो सकनेके कारण ही उसे अचिन्त्य या अमीमांस्य कहा जाता है। पाश्चात्य वैज्ञानिक भी ओषधिगुणपरम्पराके विचारको मीमांस्य और अमीमांस्य दो भागोंमें बांटते हैं। मीमांसा-योग्यको वे रेशनल (Ratonal) और अमीमांस्यको इम्फीरिकल (Empherical) कहते हैं। कालाजारमें अंजनका प्रयोग, क्षयमें स्वर्णप्रयोग, अनिद्रारोगमें धवलबरुवा, आदिका विचार अमीमांस्य ही समझा जाता है।

द्रव्यकी शक्ति गुणोंपर निर्भर करती है। गुणोंमें रस-वीर्य-विपाक और प्रभाव भी है। रस द्रव्यगत जिह्वा आस्वादका विषय है, यह प्रथम है और प्रधान है। किन्तु जब विपाकके पश्चात् किसी द्रव्यका विपाक रस बदल जाता है तब मूल रसकी परवाह न कर वह अपना ही शासनादेश चलाता है। किन्तु द्रव्यमें जो चिन्त्यकरणशक्ति होतीहै वह इन दोनों रस और विपाकशक्तिसे प्रबल है और इन दोनों पर अपनी छाप वीर्य नामसे लगाती है। प्रभाव इसके भी ऊपर द्रव्यका अचिन्त्य कार्यफल है। यह द्रव्यकी आत्मशक्ति दोषप्रशमन या दोषवर्धनमें बहुत प्रबल प्रभाव रखती है। दोषकी विकृति ही विकार है और दोषसाम्य या दोषशमन आरोग्य है। चुम्बक पत्थर लोहेको क्यों खींचता है उसकी आकर्षणशक्तिका रहस्य क्या है, इसकी मीमांसा कभी सम्भव होगी तो हो जायगी, किन्तु आज तो वह अचिन्त्य ही है। विषमणि शरीरके विषको कैसे चूस लेता है, इसमें दिमागको परेशान करना ही हाथ है। द्रव्यके कार्य करनेके अनेक मार्ग हैं। उनमेंसे गुण-रस-विपाक-वीर्यकी श्रृंखला समझी जा सकती है। कभी द्रव्यप्रभाव वीर्यके द्वारा, कभी द्रव्यप्रभाव वीर्य और रसके द्वारा, कभी द्रव्यप्रभाव रस-वीर्य-विपाक सबके मेलसे कार्य करनेवाला होता है। आंवलेमें त्रिदोषशमनकी शक्ति रस-वीर्य-विपाक और प्रभाव सम्मिलित उत्पन्न होती है। 'प्रभावश्च आमलके शिवत्वम्।' स्वास्थ्यके लिये कल्याणप्रद होता है। आंवलेके अम्लत्व, शीतत्व, कषायत्व, रूक्षत्व आदि गुण परस्पर बाधक न होकर साधक होते हैं वही प्रभावकी विशेषता है। गुडूचीमें

तालरक शमनकी शक्ति गुणानुगुण नहीं प्रभाव सम्पन्न है। चरक कहते हैं कि—

'द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्, गुणप्रभावाद् , द्रव्यगुणप्रभावाच्च कार्मुकाणि भवन्ति'

अर्थात् द्रव्य अपने द्रव्यप्रभावसे, गुणप्रभावसे तथा द्रव्यगुणके सम्मिलित प्रभावसे कार्मुक होते हैं। कार्य सम्पादनमें समर्थशील होते हैं। द्रव्य अपने किसी सारभागसे, सर्वांशसे तथा अन्य गुण परम्परासे कार्यक्षम होते हैं। जब उनकी कार्यक्षमता उनके संगठनात्मक तत्त्वोंके विचारसे भी परे होती है तब उसे प्रभाव कहते हैं। प्रभावका अमित प्रभाव होने पर भी यह नहीं समझना चाहिये कि उसके बलसे हम असाध्य व्याधिका भी निवारण कर सकेंगे। रसायन द्रव्य और स्वस्थवृत्तके उपाय स्वास्थ्यसम्पन्नता लाते हैं, दोषहरण कर धातुसाम्य उत्पन्न करते हैं, अनागतरोगकी बाधाको भी प्रशमन करते हैं; किन्तु असाध्य व्याधिमें द्रव्यादिका बलव्याधिबाधित है। उसके लिये वह समर्थ नहीं है। क्योंकि जिसके पेटमें पित्त बलवान रहता है उसके उदरमें मधुर और शीतवीर्य दूध भी विदग्ध हो जाता है। इसी तरह जिसके अन्नवहस्रोतमें पित्त और जठरानल विशेष होता है वह विदाही अन्न न खावे तब भी विदग्धता होती है। फिर जिसका आयुष्य ही पूर्ण हो चुका है, उसके लिये क्या उपाय होगा। प्रभावप्रकरणमें प्रभावके कई उदाहरण दिये गये हैं। दन्ती और चित्रक रस–वीर्य–विपाकमें समान होते हुए भी चित्रक दस्तावर नहीं है; किन्तु दन्ती प्रभावसे विरेचन लानेवाली है। यह पहले ही कहा गया है कि रस-वीर्य–विपाक–प्रभाव आदिमें जो बलवान होता है वह औरोंकी कार्यशक्तिको दबाकर अपना कार्य प्रदर्शित करता है। सुरा रस और विपाकमें अम्ल और उष्णवीर्य होनेपर भी सौम्यगुण विशिष्ट दूध उत्पन्न करता है—बढ़ाता है, यह प्रभावका ही प्रभाव है।

द्रव्यके कार्यसम्पादनमें कुछ काम रसके द्वारा, कुछ विपाकके द्वारा, कुछ वीर्यके द्वारा एवं २० या प्रधान ८ गुणोंके द्वारा, कुछ गन्धादि–स्थिर–सरादिके द्वारा, कुछ कर्म विपाकद्वारा, कुछ कर्म अपने प्रभावद्वारा सम्पन्न होते हैं। ये सभी द्रव्य प्रभाव हैं। अन्य प्रभाव स्वभावसिद्ध होते हैं। जैसे अग्नि रूप प्रकाशित करता है, पृथ्वी रूप प्रकाशन नहीं करती, उष्णतासे दहनक्रिया होती है। शीत ठण्डक लाता है। स्वभावसिद्ध कार्य समझमें आने लायक हैं; किन्तु प्रभावसिद्ध कार्य तर्कके परे होते हैं। विरोध स्वरूपतः और कार्यतः दो प्रकारका होता है। गुरु–लघु, शीत–उष्णका जैसे स्वरूपतः विरोध है। गुरु–रूक्ष, उष्ण–स्निग्ध जैसे उदाहरण कार्यविरुद्धके हैं। गुरु श्लेष्मवर्धक है। रूक्ष गुरुके विरुद्ध है। गुरु कार्यतः श्लेष्मवृद्धिके विरुद्ध है, उष्ण श्लेष्मनाशकरूपमें विरुद्ध है। स्निग्धत्व श्लेष्मकर्तृत्वरूपमें विरुद्ध है। विपाक रसके

कर्मको पराभूत करता है, वीर्य रस और विपाक दोनों पर अपनी प्रभुता दिखाता है। रस-विपाक-वीर्य तीनोंके कर्मोंको रोककर प्रभाव अपना कर्म दिखलाता है। इस प्रकार जो बलवान होता है वह निर्बलको दबाकर अपना कार्य प्रभाव प्रकट करता है। भले ही ऐसा करनेमें स्वरूपतः अथवा कार्यतः विरोध हो। गुरु और लघुका स्वरूपतः विरोध है, शीत और उष्णका स्वरूपतः विरोध है, वायुको जीतनेके लिये जो रूक्षोष्ण द्रव्यका उपयोग हुआ वह कार्यतः विरोध है। इस तरह जो अल्पवस्तुजात है वह बहुशक्ति वस्तुजातसे अभिभूत होता है। जैसे दूध शीतवीर्य होते हुए भी मधुररसहेतुक स्नेह गौरवशक्तिकी बहुल सहायतासे वातप्रकोप कार्य न करते हुए वातशमन करता है। मधुर मधु कटु विपाकके रोबमें आकर मधुररसके अनुरूप वायुनाश न करते हुए कटु विपाकके अनुरूप वायुप्रकोप करता है। किन्तु प्रभाव इन तीनोंको पछाड़कर अपना कार्य करता है। सुरा दुग्धवर्धक होती है। प्रभाव द्रव्यका आत्मा है। यह दोषशमनरूपी शुभकर्मभी करता है और दोषप्रकोपनरूपी अशुभ कर्मभी करता है। जब बहुतसे द्रव्य मिलकर एक काम करते हैं तब कर्तृविशेषण कहते हैं और जब एक द्रव्य बहुतसे कर्मसाधन करता है तब उसे कर्मविशेषण कहते हैं। द्रव्योंका बलप्रदर्शन दो प्रकारका होता है। १ कृत्रिम २ अकृत्रिम। मात्राधिक्यसे सहायसम्पत्तिके साथ कार्य करनेसे जिस बलकी उत्पत्ति होती है वह कृत्रिम बल है, द्रव्यका स्वाभाविक शक्ति अकृत्रिम बल है। रसादि प्रभावादि स्वाभाविक बल है।

रसादिकी विशेष बातें

ऊपर इस विषयका आवश्यक वर्णन किया जा चुका है। किन्तु रस-वीर्य-विपाक और प्रभावके सम्बन्धमें कुछ और भी खास बातें कहना चाहते हैं। जिन पदार्थोंका रस और विपाक दोनों मधुर होते हैं वे पदार्थ साधारणतः शीतवीर्य होते हैं। जिनका रस और विपाक अम्ल होता है वे पदार्थ प्रायः उष्णवीर्य होते हैं। इसी तरह जिन पदार्थोंका रस और विपाक कटु होता है वे भी उष्णवीर्य होते हैं। इससे साधारणतः यह समझना चाहिये कि मधुर रस शीत है तथा अम्ल और कटुरस उष्ण हैं।

शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रस-पाकयोः।
तयोरम्लं यदुष्णं च यद् द्रव्यं कटुकं तयोः।
तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः॥

जिन द्रव्योंके वीर्य और विपाक उसके रससे विरुद्ध न होकर समान होते हैं उनका दोषशमन अथवा प्रकोपनका फल रसके ही समान होता है। अर्थात् वह रस दोषको बढ़ाता अथवा घटाता है, उसीको उस विपाक और वीर्यवाले पदार्थ

भी बढ़ावेंगे अथवा घटावेंगे। ऐसे पदार्थ कुछ क्रिया रसके द्वारा, कुछ विपाकके द्वारा और कुछ वीर्यके द्वारा करते हैं। इसी तरह मधुर, तिक्त और कषायरस ठण्डे और अम्ल, लवण और कटुरस उष्णवीर्य हैं। उदाहरणार्थ दूध और घी मधुर रसवाले हैं इनका विपाक भी मधुर है अतएव इनका वीर्य भी शीत है। इसी तरह चव्य और चित्रक कटुरसवाले, कटुविपाकवाले, अतएव उष्णवीर्यवाले हैं। ओषधिगुण कथनमें जहांपर खाली यही लिखा जाता है कि यह पदार्थ उष्णवीर्य अथवा शीतवीर्य है, वहां यही समझना चाहिये कि इनका रस और विपाक भी उनके अनुकूल होना चाहिये। यदि उनका वीर्य और विपाक रसके विरुद्ध होगा तो ऐसा न कह कर रस, विपाक और वीर्यका अलग निर्देश होगा। इस साधारण नियमके विपरीत भी कभी-कभी देखा जाता है। मधुर, तिक्त और कषायरस शीत हैं; किन्तु कोई कोई पदार्थ मधुर होने पर भी उष्णवीर्य होते हैं। जैसे जलचर और अनूप देशके जीवोंका मांस मधुर होनेपर भी उष्णवीर्य होता है और बिल्वादि बृहत्पञ्चमूल तिक्त और कषायरस होते हुए भी शीतवीर्य न होकर उष्णवीर्य होते हैं। इसीसे आनूपमांस मधुर होनेपर भी उष्णवीर्य होनेके कारण पित्तका शमन न कर प्रकोप करता है और कषायतिक्त बृहत्पञ्चमूल उष्णवीर्य होनेके कारण पित्तका शमन न कर वायुको शान्त करता है। इसी तरह लवणरस उष्णवीर्य है; परन्तु सेंधानमक लवणरस होनेपर भी उष्णवीर्य नहीं है और इसीसे वह पित्तको बढ़ानेके बदले शमन करता है; किन्तु वायुका शमन शीतवीर्य होनेसे नहीं कर सकता। आंवले खट्टे होनेपर भी उष्णवीर्य नहीं हैं। इसी तरह मन्दार, अगर और गुर्च तिक्तरस होनेके कारण शीतवीर्य होने चाहिये; परन्तु ये उष्णवीर्य हैं और इसीलिये ये चीजें पित्तको बढ़ाती हैं। अम्लरसके कुछ पदार्थ स्तम्भक होते हैं और कुछ रेचक होते हैं। जैसे कैथा और आंवला दोनों खट्टे हैं; परन्तु कैथा मलको रोकनेवाला और आंवला सारक है। कटु रस उष्ण और बलनाशक (अवृष्य) है; परन्तु पीपल और सोंठ रसमें कटु होकर भी विपाकमें मधुर हैं; इसीसे ये दोनों चीजें उष्णता उत्पन्न नहीं करतीं और वृष्य हैं। कषायरस स्वभावतः स्तम्भक और शीत है; परन्तु हर्रा कसैला होने पर भी स्तम्भक न होकर रेचक है। इस प्रकार एक ही रससे भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भिन्न-भिन्न गुण पाये जाते हैं। इसलिये जब किसी पदार्थका वर्णन करना हो तब केवल उसके सामान्य गुणधर्म कहनेसे ही काम नहीं चलेगा।

वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते ।
यथा पयो यथासर्पिर्यथा वा चव्य-चित्रकौ ॥
एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक् ।
मधुरे किंचिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च ॥

यथा महत्पञ्चमूलं यथाऽब्जानूपमामिषम् ॥
लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा ।
अर्कागुरु-गुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते ॥
किंचिदम्लं हि संग्राहि किंचिदम्लं भिनत्ति च ।
यथा कपित्थं संग्राहि भेदि चामलकं तथा ।
पिप्पली नागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते ॥
कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयायामतोऽन्यथा।
तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत् ।
दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम् ॥ (च. सू. अ. २६)

कहा जा चुका है कि छहों रसोंमें कषायरस सबसे अधिक रूक्ष है, कटुरस मध्यम रूक्ष है और तिक्तरस साधारण रूक्ष है। उष्णताके सम्बन्धमें लवणरस सबसे अधिक उष्ण है, अम्लरस मध्यम उष्ण है और कटुरस साधारण उष्ण है। स्निग्धताके विचारसे मधुररस सबसे अधिक स्निग्धतम है, अम्लरस मध्यम स्निग्ध अर्थात् स्निग्धतर और लवणरस कम स्निग्ध है। चरकमें लिखा है—

रौक्ष्यात्कषायो रूक्षाणामुत्तमो मध्यमः कटुः ।
तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः ॥
मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः स्निग्धानां मधुरः परः ।
मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्नियच्छति ॥

इसी प्रकार शीतता अर्थात् ठण्डाईके लिहाजसे मधुररस सबसे अधिक शीत अर्थात् शीततम है, कषाय मध्यशीत अर्थात् शीततर है और तिक्तरस साधारण शीत है। गुरुताके विचारसे मधुररस सबसे अधिक भारी अर्थात् गुरुतम है, कषाय मध्यमगुरु अर्थात् गुरुतर है और लवणरस साधारण गुरु है—

तिक्तात्कषायो मधुरः शीताच्छीततरः परः ।
स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः ॥

लघुता अर्थात् हलकेपनके विचारसे तिक्तरस सबसे अधिक हलका अर्थात् लघुतम है, कटुरस मध्यम हलका अर्थात् लघुतर है और अम्लरस साधारण हलका अर्थात् लघु है। किसी-किसी आचार्यके मतमें लवणरस ही सबसे अधिक हलका है।

अम्लात्कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमो मतः ।
केचिल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम् ॥
गौरवे लाघवे चैवं सोऽवरस्तूभयोरपि ॥

लवणरसको गुरुताकी दृष्टिसे कनिष्ठ माना गया है; परन्तु इस मतभेदसे कोई अर्थभेद नहीं होता। क्योंकि दोनों ही पक्ष उसे कनिष्ठ ही मानते हैं। जो गुरुताके सम्बन्धमें उसे कनिष्ठ मानते हैं वे अम्ल-कटु और तिक्त लघुरसोंकी अपेक्षा उसकी गुरुता कबूल करते हैं; परन्तु जो लघुतामें उसे कनिष्ठ मानते हैं वे भी लघुरसके अम्लरसकी लघुताकी अपेक्षा उसे कम लघु मानते हैं। सारांश दोनों पक्षोंमें उसकी कुछ लघुता और किञ्चित् गुरुता कबूल की जाती है। इसलिये कोई अर्थभेद नहीं है। इसपर कदाचित् कोई शङ्का करेगा कि अम्लरसकी मूल उत्पत्ति पृथ्वीतत्त्वसे है, वह लवणरसकी मूल उत्पत्ति जलकी अपेक्षा गुरु है। अतएव लवणरस अम्लरसकी अपेक्षा अधिक गुरु कैसे हो सकता है। इसका यही उत्तर है कि केवल रसोंके उत्पादक महाभूतनिवेशसे ही उनकी गुरुता अथवा लघुता निश्चित नहीं की जा सकती। जैसे मधुररस जलतत्त्वप्रधान और कषायरस पृथ्वीतत्त्वप्रधान है। यदि तत्त्वनिवेशके अनुसार देखने लगें तो पृथ्वीतत्त्वकी गुरुताके कारण कषायरसको मधुररससे अधिक गुरु होना चाहिये था। किन्तु मधुररस यथार्थमें कषायसे भारी है।

मधुर-लवण और अम्ल ये तीनों रस स्निग्ध हैं, इसलिये प्रायः वायु, मल और मूत्रके सुखपूर्वक विसर्जनमें सहायक होते हैं। अर्थात् इस रसवाले द्रव्य विपाकके बाद भी अपनी स्निग्धताके कारण वायु, मल और मूत्रका अवरोध न कर उन्हें अच्छी तरहसे निकाल देते हैं।

मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात्त्रयो रसाः।
वातमूत्रपुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः॥

इसके विरुद्ध कटु-तिक्त और कषाय रसवाले पदार्थ रूक्ष होनेके कारण वायु-मल-मूत्र और वीर्यका अवरोध करते हैं।

कटुतिक्तकषायाश्च रूक्षभावात् त्रयो रसाः।
दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वातविण्मूत्ररेतसाम्॥

जिन पदार्थोंका विपाक कटु होता है, वे पदार्थ अपनी रूक्षताके कारण वीर्यनाशक, मल-मूत्रका अवरोध करनेवाले और वायुको बढ़ानेवाले होते हैं। जिन पदार्थोंका विपाक मधुर होता है वे पदार्थ अपनी स्निग्धताके कारण मल और मूत्रको निकालनेवाले तथा कफ और वीर्यको बढ़ानेवाले होते हैं। सुश्रुतने भी कहा है—

'गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च।
लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च॥'

जिन पदार्थोंका विपाक अम्ल होता है वे उष्णवीर्यके कारण पित्तको बढ़ानेवाले, शुक्रका क्षय करनेवाले और स्निग्ध भावके कारण मल और मूत्रको निकालनेवाले

होते हैं। जिन पदार्थोंका विपाक मधुर होता है वे पदार्थ भारी होते हैं और जिन पदार्थोंका विपाक कटु और अम्ल होता है वे हलके होते हैं।

शुक्रहा बद्धविएमूत्रो विपाके वातलः कटुः।
मधुरः सृष्टविएमूत्रो विपाके कफशुक्रलः॥
पित्तकृत्सृष्टविएमूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा।

ऊपर जिस विपाकका वर्णन किया गया है उसकी अल्पता, मध्यमत्व और अधिकता पदार्थस्थित रसकी अल्पता, मध्यमत्व और अधिकतापर अवलम्बित रहती है। जसे मधुर रसके पदार्थोंका विपाक मधुर होता है; परन्तु जिस पदार्थमें मधुरता अधिक होगी, उस पदार्थके विपाककी मधुरता भी अधिक होगी, जिसमें रस मध्यम अथवा कनिष्ठ स्थितिमें होगा उसके विपाकका रस भी वैसा ही होगा। ऊखमें मधुरताकी अधिकता है, अतएव उसका विपाक अधिक मधुर होगा। सारांश यह कि प्रत्येक पदार्थके परिणामके अनुरूप उससे उत्पन्न विपाक रसकी मात्रा होगी।

विपाकलक्षणस्यालपमध्यभूयस्त्वमेव च।
द्रव्याणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत्॥

रस-वीर्य-विपाकका सामञ्जस्य

इस प्रकार किसी पदार्थको मुँहमें रख जीभसे स्वाद लेते ही जो स्वाद मालूम पड़े वह रस कहलाता है। आहार खानेके बाद उसका पचन होकर अन्तमें धातु निर्माणके समय उससे शरीर पर जो कफवृद्धि, वीर्यवृद्धि, पित्तप्रकोप, वातशमन आदि क्रियाएं होती हैं उनसे विपाकका निश्चय निर्धारित किया जाता है। किसी पदार्थका शरीरसे सम्बन्ध होने अर्थात् निपात और उस पदार्थके कुछ समय तक शरीरमें रहनेसे अर्थात् अधिवाससे और कभी निपात और अधिवास दोनों सम्मिलित विधिसे वीर्यका निश्चय किया जाता है। जैसे मिरचेका उष्णवीर्य, उसे खाते ही मालूम पड़ जाता है; परन्तु आनूपमांसकी उष्णवीर्यता कुछ समय उसके शरीरमें रहनेसे मालूम पड़ती है और दीपनीय पदार्थोंकी उष्णवीर्यता खानेके बाद और उसके कुछ समय बाद दोनों प्रकारसे जानी जाती है, यह तीसरे प्रकारका उदाहरण हुआ। इससे सिद्ध हुआ कि रस सदा प्रत्यक्ष रहता है। विपाक सदा अप्रत्यक्ष रहता है; वीर्य द्रव्यके गुणों की चिन्त्य शक्ति है और प्रभाव द्रव्य-कर्मकी अचिन्त्य शक्ति है। किन्तु उसके कार्योंके द्वारा उसका अनुमान किया जाता है। वीर्य प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों पद्धतियोंसे जाना जाता है। सेंधानमककी

शीतवीर्यता और आनूपमांसकी उष्णवीर्यता अनुमानके ही द्वारा जानी जाती है। इसी तरह राईकी उष्णवीर्यता नाकसे ही प्रत्यक्ष जानी जाती है। श्लक्ष्णता, विशदता, स्निग्धता, रूक्षता आदि गुण हाथ-आंख आदि इन्द्रियोंके द्वारा निश्चित करने पड़ते हैं। गुणवीर्यके स्वाभाविक और कृत्रिम दो भेद हैं। उड़दका भारीपन और मूंगका हलकापन यह स्वाभाविक गुणवीर्यका उदाहरण है और लाईका हलकापन यह कृत्रिम गुणवीर्यका उदाहरण है। इन सब बातोंका सामञ्जस्य ही इस शास्त्रका निचोड़ है।

इस पुस्तकमें रस-विपाक-वीर्यादिके कर्मसाधन सम्बन्धी जो विवरण दिया गया है, उससे स्थूल दृष्टिसे देखने वालोंको भ्रम या मोह हो सकता है। कहीं रस कार्य करते हैं, कहीं विपाक अपनी जोर अजमाई करते हैं, कहीं वीर्य अपने बलका प्रदर्शन करते हैं; यही क्यों सबके ऊपर प्रभाव सभीको पछाड़ कर अपनी ही बात चरितार्थ करना चाहते हैं। बलवान निर्बलको दबाकर आगे बढ़ जाना चाहता है, यह विज्ञान क्या भानुमतीका पिटारा है। ये सब शरीरको अखाड़ा बनाकर अपने-अपने दांवपेंच भिड़ा रहे हैं। इसका समझना सहज नहीं है। ऐसे उद्गार उथले विचारवालोंके मुँहसे निकल सकते हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है। एक दूसरेका जो विरोध है वह कार्यसाधनके लिये, आरोग्य-संरक्षणके लिये है। इसे अच्छी तरह समझकर बुद्धिमान वैद्य अपना कर्तव्य निश्चय कर सकता है। अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान अध्याय १७ में इस शंकाका समाधान किया गया है—

विरुद्धा अपि चान्योन्यं रसाद्याः कार्यसाधने।
नावश्यं स्युर्विघाताय गुणदोषाभिधो यथा॥

अर्थात् यद्यपि रसादिका कार्य एक दूसरेके कार्यसे कहीं-कहीं विरुद्ध दीखता है, बलवान निर्बलको दबाकर आगे बढ़नेका प्रयत्न करता है तथापि रसादिके ये कार्य विरुद्ध दीखने पर भी शरीरके नाशके कारण नहीं बनते, बल्कि आरोग्यरक्षण-कार्य-साधनके कारण होते हैं। जैसे सत्त्व-रज-तम ये प्रकृतिके तीन गुण एक दूसरेके विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं तथापि जगतकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक नहीं होते एक दूसरेके सहायक होते हैं। इसी तरह वात-पित्त-कफ दोष एक दूसरेके विरुद्ध दिखलाई पड़ने पर भी देहकी उत्पत्तिमें तथा रोगोत्पादनमें अथवा आरोग्यसाधनमें एक दूसरेके प्रतिबन्धक नहीं होंगे। इसी तरह रस वीर्य-विपाक भी अपना कार्य करनेमें एक दूसरेके प्रतिबन्धक नहीं होते। सामंजस्यपूर्वक अपना-अपना काम करते रहते हैं।

वैद्यका वैद्यत्व इसीमें है कि वह यह समझनेका प्रयत्न करे कि पंचमहाभूतोंमें जो किसीके उत्कर्षसे और किसीके अपकर्षके कारणसे द्रव्योंके रस-वीर्य और

विपाकमें एकरूपताके साथ परस्पर अनुकूलरूपसे अथवा विरूपता या भिन्नतासे परस्पर प्रतिकूलतासे जो अन्तर आया है, उसकी अपने अनुकूल कार्यसाधकता किस प्रकार करें। जैसे दूधमें रस-वीर्य और विपाक एकरूपसे क्रमानुकूल रहते हैं किन्तु आनूप—जलचर जीवोंके मांसमें विरूप या भिन्नरूपसे रहते हैं। द्रव्योंमें रसादिकी इस परिस्थितिके ज्ञानसे आहारविनिश्चय तथा औषधविनिश्चयमें सहायता मिलती है। रसादिकी इस अनुकूल एवं सहायकरूपकी स्थिति अथवा प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान या द्रव्योंके गुणोंका निर्णय इस शास्त्रके द्वारा होना सहज है और यह सामञ्जस्य स्थिर करना रसादि परिचयमें सफलताका द्योतक है।

रसवीर्यप्रभृतयो भूतोत्कर्षापकर्षतः।
एकरूपा विरूपा वा द्रव्यं समधिशेरते॥
माधुर्य-शैत्य-पैच्छिल्य-स्नेह-गौरव-मन्दताः।
सहवृत्त्या स्थिताः क्षीरे नत्वानूपौदकामिषे। (अ. सं. सू. अ. १७)

इस प्रकारकी परस्पर सदृशता या विसदृशता द्रव्याश्रयभूत पंचमहाभूतोंके उत्कर्ष या अपकर्षके कारण घटित होती है। जिस भूतकी उत्कर्षता होगी उसके गुणद्रव्यमें अधिकतासे प्रकट होंगे, अपकर्षभूत तत्त्वके लक्षण गौणरूपसे प्रकट होंगे। इस संगठनके फलस्वरूप द्रव्यमें सदृशताकी अंशांशकल्पनाभी भूतसंघातके ही कारण होता है।

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
स्थान-वृद्धि-क्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः। (सु. सू. अ. ४१)

अथवा

गुणा द्रव्येषु ये चोक्तास्त एव तनुदोषयोः।
स्थितिवृद्धिक्षयास्तस्मात्तेषां हि द्रव्यहेतुकाः॥ (अ. सं. सू. अ. १७)

ऐसी क्षय या वृद्धि स्थानिक भी हो सकती है अथवा सार्वशारीरिक भी हो सकती है। स्थूल-सान्द्रादि गुण एवं रस-वीर्य-विपाकादि गुण सभीका इसमें विचार होना चाहिये। शरीरमें जो दोष, धातु बढ़ जाते हैं, उनके विरुद्ध गुणके पदार्थोंकी उस मनुष्यको इच्छा हुआ करती है और जो दोष धातु क्षीण होते हैं उनके समान गुणोंके द्रव्योंकी इच्छा होती है। अर्थात् शरीरके दोष-धातु समान रखनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति चित्तमें उत्पन्न होती रहती है।

कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयोः।
वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तु न (अ. हृ. अ. १२)

दोष अपने बलके अनुसार और गुणोंके अनुसार समस्थितिमें होनेपर यथायोग्य

क्रिया करते हैं और बढ़नेपर वृद्धि करते हैं, क्षय होनेपर उन लक्षणोंकी कमी हो जाती है। जो दोष समावस्थामें रह कर देहकी वृद्धि करते हैं वे ही विषम होनेपर शरीरका नाश भी करते हैं अतएव हितकर आहार-विहार औषध और स्वस्थवृत्त द्वारा क्षय और वृद्धिसे शरीरका रक्षण करना चाहिये अर्थात् दोष-धातुओंको सम रखनेके लिये इस शास्त्रका योग्य अध्ययन करना चाहिये। चरकने भी कहा है—

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥

इस प्रकार 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां, विपरीतैर्विपर्ययः।' सूत्रको स्मरण रख सजीव शरीरकी समानताके लिये क्षय-वृद्धि समझकर निर्जीव औषधान्नके द्वारा क्षय और वृद्धिको रोककर समता लानेके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस कार्यमें यह समन्वय सदा सहायक होगा।

—०—

विचित्रप्रत्ययारब्धकारी

यह कहा जा चुका है कि कुछ पदार्थ अपनी क्रिया अपने-अपने रसके द्वारा, कुछ गुणोंके द्वारा, कुछ वीर्यके द्वारा, कुछ विपाकके द्वारा और कुछ द्रव्य अपनी क्रिया अपने खास प्रभावके द्वारा सम्पादित करते हैं। अर्थात् प्रत्येक द्रव्यमें जो रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव होते हैं उन सभी शक्तियोंका उपयोग अपनी क्रिया करनेमें वे नहीं करते, किसी एक शक्तिके द्वारा वे अपना कार्य करते हैं; किन्तु कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जो अपनी भिन्न-भिन्न शक्तिके द्वारा भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादित किया करते हैं। जैसे शहद अपने कषायरसके द्वारा पित्तका शमन करता है और कटुविपाकके द्वारा कफका नाश करता है। बृहत्पंचमूल उष्णवीर्य होनेके कारण वायुका और कांजी रूक्षता गुणके कारण कफका नाश करती है। प्रत्येक द्रव्य में ये जो रस-वीर्य-विपाक और प्रभाव ये चार गुण होते हैं, वे यदि सभी अपने परिमाणसे समान रूपमें रहें तो भी रसकी शक्तिको विपाक नष्ट कर देता है, रस और विपाक दोनोंकी शक्तिको मन्दकर वीर्य अपनी शक्तिका चमत्कार दिखाता है और रस-विपाक-वीर्य तीनोंकी शक्तिको बेकाम कर प्रभाव प्रभाव दिखाता है। अर्थात् रसकी अपेक्षा विपाक, रस और विपाककी अपेक्षा वीर्य और रस-विपाक-वीर्य तीनोंकी अपेक्षा प्रभावकी शक्ति स्वाभाविक अधिक होती है। उदाहरणार्थ शहदके मधुर रसकी शक्ति उसके कटुविपाकने पंगु कर दी, जिससे उसका मधुर रस वायुका शमन करनेमें समर्थ न हुआ; बल्कि कटु विपाकने वायुका प्रकोप कर कफका शमन किया। दूसरा उदाहरण लीजिये, भैंसके मांसका रस और विपाक दोनों मधुर हैं; परन्तु उसका वीर्य उष्ण है; इसलिये उसके मधुर रस और विपाकमें पित्त शमन

करनेकी शक्ति न रही, उल्टा उष्णवीर्यने ही अपनी शक्तिसे पित्तदूषित करनेकी क्रिया सम्पादित की। शराबका रस और विपाक अम्ल और वीर्य उष्ण है; परन्तु अपने प्रभावसे यह रसादि तीनों गुणोंको पददलित कर स्त्रियोंमें दूध अधिक उत्पन्न करनेकी शक्ति प्रकट करता है।

प्रश्न हो सकता है कि प्रभावमें इस प्रकारकी विचित्र शक्ति आती कैसे है? और कहाँसे आती है? किसी किसी पदार्थकी विचित्र बनावटके कारण जो उसके कार्यमें फरक पड़ता है और उसमें एक विलक्षण कार्य कर दिखानेकी शक्ति आ जाती है, उसके प्रभावके ही कारण पदार्थके इस भेदकी सृष्टि होती है। पदार्थके इस भेदको कहते हैं 'विचित्र प्रत्ययारब्धकारी प्रभाववाले द्रव्य।' अब तक जो वर्णन हुआ है वह द्रव्य, रस, वीर्य आदिके सामान्य कर्मोंका ही हुआ है, उनके विशेष कर्मोंकी व्याख्या नहीं की गयी।

> इति सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां पुनश्च तत्।
> विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते।

जिन द्रव्योंमें द्रव्यको बनानेवाले द्रव्यारम्भक महाभूत और रस-वीर्य-विपाकारम्भक महाभूत इन दोनोंका एक ही प्रकारके उत्कर्ष और अपकर्ष (अर्थात् न्यूनाधिक भाव) से सन्निवेशपूर्वक संगठन हुआ है ऐसे द्रव्योंको समान प्रत्ययारब्ध (अर्थात् समानकारणोंसे बने हुए) द्रव्य कहते हैं। उदाहरणार्थ दूध, ऊख और चीनी लीजिये इनमें जो द्रव्यारम्भक महाभूत हैं वे ही महाभूत उसके रस-वीर्य-विपाकके भी आरम्भक महाभूत हैं। दोनोंका महाभूतसन्निवेश एक समान है। अत एव ऐसे द्रव्य समानप्रत्ययारब्ध कहे जायेंगे। दूधमें रस-वीर्य-विपाक एक दूसरेके अनुकूल ही है। ऐसे द्रव्योंके समस्त कर्म रसोपदेशसे ही कहे जा सकते हैं और जाने जा सकते हैं। इसके विपरीत—जिन द्रव्योंमें द्रव्यारम्भक महाभूत और रस-वीर्य-विपाकके आरम्भक महाभूत इन दोनोंका एक दूसरेसे भिन्न प्रकारके उत्कर्षापकर्षसे सन्निवेशपूर्वक संगठन होता है उन्हें विचित्रप्रत्ययारब्ध (अर्थात् विचित्र या विभिन्न प्रकारके कारणोंसे बने हुए) द्रव्य कहते हैं। ऐसे द्रव्योंमें उनके रस-वीर्य और विपाक विभिन्न प्रकारके होनेसे उनके कर्म भी विभिन्न प्रकारके होते हैं। इस ग्रन्थमें अब तक जो रस-वीर्य-विपाकके कर्म कहे गये हैं वे समानप्रत्यारब्ध द्रव्योंके ही हैं। विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्योंमें उनके कर्म रस-वीर्य और विपाकसे भिन्न प्रकारके होते हैं। अतः उनके कर्म केवल रसोपदेशसे न कहकर स्वतन्त्ररूपसे कहने पड़ते हैं। क्योंकि विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्योंके कर्म उनके रस-वीर्य और विपाकसे भिन्न प्रकारके होते हैं। ऐसे द्रव्योंमें जो संगठन होता है वह देश-काल और प्राक्तनकर्मके प्रभाववश विचित्र या विलक्षण

प्रकारका होता है। द्रव्य संगठन भी विलक्षण और उसके रस-वीर्य-विपाकका आरम्भक संगठनभी विलक्षण होता है। जिसके कारण उसी प्रकारके दूसरे द्रव्योंके रूप-रस-वीर्य-विपाकका उससे मेल नहीं खाता। इस प्रकारके द्रव्य मकुष्ठ (मकरा), जव, मछली और सिंहमांस हैं। इनके रसके अनुकूल वीर्य और विपाकके कर्म नहीं होंगे। उनका वर्णन करना भी सहज नहीं होगा।

यह आवश्यक नहीं कि जिन पंचमहाभूतोंसे द्रव्योंका प्रारम्भिक संगठन हुआ हो उन्हीं पंचमहाभूतोंसे उनके रस-वीर्य-विपाकका भी निर्माण होवे। द्रव्योंमें महाभूतोंका संयोग एक ही पद्धतिसे न होना आकार और परिमाणमें भी अन्तरका कारण होता है। यह संयोगजनित आकार प्रकार पूर्व जन्म या पूर्व शुभाशुभकर्मसे प्रेरित विचित्र महाभूतोंका परिणाममात्र है। द्रव्यके आश्रित रहनेवाले रसादिका कार्य भी उन महाभूतोंकी उस मिलावटके अनुसार ही होता है। देश-काल-पात्रके भेदसे किसी-किसी पदार्थमें यह संयोग विचित्र ढङ्गसे होता है। सभी पदार्थोंमें कुछ परस्पर विलक्षणता होती ही है। यह विलक्षणता किसी-किसी में विशेष उल्लेखके योग्य हो जाती है। पदार्थोंके घटकावयवके विचित्रप्रत्ययारब्ध ही इस विलक्षणताके कारण हैं। यह कहा जा सकता है कि जब अन्य सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न रूप-रस-विपाकवाले होते और मालूम पड़ते हैं, तब फिर विचित्रप्रत्ययारब्ध भेदसे कौन सी भेदविशेषता बढ़ती है। इसका उत्तर यही है कि साधारण द्रव्योंकी बात साधारण है और विशिष्ट-द्रव्योंको जब हम अलग करेंगे तब विचित्रप्रत्ययारब्ध विशेषण लगाना ही शास्त्र सम्मत है। जिस भेदसे द्रव्योंके रसवीर्यादिके सामान्य भेद जाने जाते हैं वे साधारण भेद समानप्रत्ययारब्ध हैं; किन्तु जिन द्रव्योंमें द्रव्यारम्भक महाभूत अन्य और रसादिकोंके महाभूत दूसरे ही होते हैं वे द्रव्य विचित्रप्रत्ययारब्ध कहलाते हैं।

स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृद्यवः।
उष्णा मत्स्याः पयः शीतं कटुः सिंहो न शूकरः॥

विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्योंके कुछ उदाहरणों पर भी विचार करना आवश्यक है। मोठ, मछली, यव और सिंहका मांस इसी श्रेणीके हैं। ये यथारस-वीर्य-विपाक कर्म सम्पादित नहीं करते हैं। 'रसादिसमानप्रत्ययारब्ध' द्रव्योंके रस-वीर्य-विपाकके कर्म रसानुगामी होते हैं; किन्तु विचित्रप्रत्ययारब्धकारी पदार्थोंके रस-वीर्य-विपाक और प्रभावका समझना उनके कर्मोंके अनुशीलनके बिना नहीं हो सकता। उदाहरणके द्वारा इसे समझिये। गेहूं मधुररसवाला और गुरुगुणवाला है विपाक भी उसका मधुर ही है। मधुररस वायुनाशक है; अतएव समान प्रत्ययारब्धकारी होनेके कारण अपने रसगुणके अनुसार गेहूं वायुका नाश करता

है। इसके विपरीत जब मधुररसवाला और गुरु होनेके कारण लघुगुण सम्पन्न वायुका नाश नहीं करता बल्कि विचित्रप्रत्ययारब्धकारी होनेके कारण—रसोंका घटकावयव द्रव्यके घटकावयवसे भिन्न होनेके कारण-वायुको बढ़ानेका काम करता है। इसी तरह मछलीका मांस मधुररसवाला और गुरुगुणवाला है; किन्तु मधुर-रसके अनुकूल उसका वीर्य शीत नहीं है; क्योंकि उसकी बनावट विचित्रप्रत्यया-रब्धकारी होनेके कारण वह उष्णवीर्य है। दूध मधुररसवाला और गुरु होनेके कारण और उसकी बनावट समानप्रत्ययारब्धकारी होनेके कारण उसका वीर्य भी मधुररसानुगामी शीत है। शूकरका मांस मधुररस और गुरुगुणवाला है और रसके अनुकूल उसका विपाक भी मधुर है; क्योंकि यह समानप्रत्ययारब्धकारी पदार्थ है। इसके विपरीत सिंहका मांस स्वादुरसवाला और गुरुगुणवाला है; किन्तु उसका विपाक रसके अनुकूल मधुर नहीं; बल्कि विचित्रप्रत्ययारब्धकारी होनेके कारण कटुविपाक है। इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि जब द्रव्यकी रचना की घटना और रसादिकी रचना एक ही पद्धतिसे नहीं होती, तब उस पदार्थके रससे या तो विपाक नहीं मिलता या वीर्य नहीं मिलता। ऐसी दशामें वह विलक्षण विपाक या वीर्य सबको दबाकर अपना विचित्र गुण दिखलाता है। किन्तु समानप्रत्यया-रब्धकारी पदार्थोंमें रस-विपाक-वीर्य एक क्रमसे होता है; अतएव उसके सेवनका फल भी उसी क्रमसे होता है। मतलब यह कि किसी पदार्थकी गुणदोष-विवेचना करनेमें केवल रस ही विचारयोग्य नहीं है; बल्कि पदार्थकी बनावट, रसकी बनावट, उसका विपाक और वीर्यकी विवेचना करनेके बाद गुणदोषका निश्चय हो सकता है।

और भी—

> यस्माद् दृष्टो यवः स्वादुर्गुरुरप्यनिलप्रदः।
> दीपनं शीतमप्याज्यं, वसोष्णाऽप्यग्निसादनी॥
> कटुपाकोऽपि पित्तघ्नो मुद्गो माषस्तु पित्तलः।
> स्वादुपाकोऽपि चलकृत् स्निग्धोष्णं गुरु फाणितम्॥
> कुरुते दधिगुर्वेव वह्निं पारावतं न तु।
> कपित्थं दाडिमं ग्राहि साम्लं नामलकीफलम्॥
> कषाया ग्राहिणी शीता धातकी न हरीतकी।
> अप्रधानाः पृथक् तस्माद्रसाद्याः संश्रितास्तु ते॥
> प्रभावश्च यतो द्रव्ये द्रव्यं श्रेष्ठमतो मतम्। (अ. सं. सू. अ. १७)

यव मधुर और गुरु होने पर भी वायुकारक है। घृत शीतवीर्य होने पर भी

जठराग्निको प्रदीप्त करता है किन्तु बसा (चर्बी) उष्णवीर्य होने पर भी जठराग्निको मन्द करती है। मूंग कटु विपाक होने पर भी पित्तका शमन करती है; किन्तु उड़द मधुर विपाक होने पर भी पित्तको बढ़ाता है। फाणित (राब) स्निग्ध, उष्ण और गुरु होने पर भी वायुको बढ़ाती है। दही गुरु होने पर भी जठराग्निको प्रदीप्त करती है। किन्तु पारावत (कबूतर) का मांस जठराग्निको प्रदीप्त नहीं करता। कैथ और अनार अम्ल रस होने पर भी ग्राही है किन्तु आंवले अम्ल होने पर भी ग्राही नहीं रेचक हैं। धौके फूल कषाय और शीतवीर्य होनेसे ग्राही हैं परन्तु हरड़ कषाय और शीत होने पर भी विरेचन करती है। इस प्रकार जव, घी, वसा, मूंग, उड़द, राब, दही, कैथा, अनार और हरड़ इनके जो रस-वीर्य और विपाकके विपरीत कर्म कहे गये हैं वे उनके द्रव्यगत प्रभावसे होते हैं प्रभाव प्रायः विकृतिविषम-समवेत, विचित्रप्रत्ययारब्ध और विजातीयान्वयवाले द्रव्योंमें रहता है। रस-वीर्य और विपाक प्रभावकी अपेक्षा अप्रधान हैं। ऐसे द्रव्योंमें प्रधानभूत प्रभाव रहता है। अतः द्रव्यकी श्रेष्ठता मानी जाती है। ये सब कर्म प्रभावके हैं। विचित्रप्रत्य-यारब्ध द्रव्योंके जो कर्म बतलाये गये हैं वे भी प्रभावके समान ही अचिन्त्य और विशिष्ट होते हैं।

रसादिपरिज्ञानकी महिमा

रसादिपरिज्ञानका विषय पूर्ण हुआ। इस विषयका इतना विस्तृत विवेचन करनेका कारण यही है कि इस विषयका जानना गृहस्थ और वैद्य सभीके लिये उपयोगी है। हम जो कुछ आहार करते हैं और उससे जो धातुरस और विपाक रस बनता है उसीसे हमारे शरीरका पोषण होता है। किस रसका क्या गुण है और वह शरीरमें क्या कार्य करता रहता है इसका जानना हमारी आरोग्यरक्षाके लिये बहुत आवश्यक है। वैद्यके लिये—सच्चे वैद्यके लिये तो इसका जानना एक-दम अपरिहार्य है। इसको जाने बिना वैद्य चिकित्साकर्ममें कोई कल्पना कर ही नहीं सकता और न अपने कर्तव्यमें अचूक सफलता ही प्राप्त कर सकता है। यह आयुर्वेदविज्ञानका एक बहुत ही आवश्यक अंग है। किसी रोगमें किसी ओषधिकी योजना करते समय वैद्यको सोचना चाहिये कि इस पदार्थका रस क्या है, विपाक क्या है, वीर्य क्या है और जिस रोगमें मैं इसे देने जा रहा हूं उस रोगमें उसकी शक्तिका क्या परिणाम होगा और किस शक्तिके द्वारा क्या इष्टसिद्धि होगी। जब किसी ओषधिका गुण-दोष निर्णय करनेमें सुविधा न हो, एवं देखकर, चीखकर भी जब उसका निश्चय न हो सके, तब उसके स्वभावका निरीक्षण कर शास्त्रवाक्योंसे उसके गुण-दोषकी कल्पना करे। यही वैद्यका वैद्यत्व और यही वैद्यकी चतुरता है।

जिन ओषधियोंके प्रत्यक्ष लक्षण और प्रत्यक्ष फल दिखाई पड़ें और वे स्वभावसे प्रसिद्ध हों, उनके कारणोंको ढूँढ़ते हुए यदि वे ध्यानमें न आवें तो उनके गुणों पर सन्देह करना वैद्यका काम नहीं। जहाँ तर्कसे काम चलता न दीखे वहाँ शास्त्रका आधार ही मुख्य है। जैसे अम्बष्ठादि गणकी ओषधियाँ अतीसार और मलको रोकनेका ही काम करेंगी; किन्तु कोई तर्क भिड़ाकर उनसे विरेचन कराना चाहे तो कभी नहीं होगा। इसीलिये शास्त्रीयविज्ञानका जानना वैद्यके लिये उतना ही आवश्यक है, जितना जीवधारियोंके लिये श्वासोच्छ्वास। इसीलिये वाग्भटने वैद्योंको चेतावनी दी है—

> दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
> सत्त्वं सात्म्यं तथाऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥
> सूक्ष्मासूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
> यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥

अर्थात् वैद्यको चिकित्सा करनेके पहले इस बातका विचार कर लेना चाहिये कि कौनसा दोष प्रधान है, उस दोषने किस दूष्यको दूषित किया है, शरीरके किस अङ्गमें रोगका अधिष्ठान है; किस प्रकारके देशमें यह रोग उत्पन्न हुआ है और देशविचारसे ओषधिविचारमें कितना फरक पड़ेगा। रोगीका और रोगका बल कैसा है, कौन सी ऋतु है, कैसा समय है अथवा कालज्ञानके अनुसार रोगका परिणाम क्या होगा, रोगीका अग्निबल कैसा है, स्वभाव कैसा है, उमरके विचारसे ओषधिकल्पनामें क्या अन्तर पड़ेगा, सत्त्व क्या है, रोगीकी आदतके अनुकूल सात्म्य क्या है, रोगीने कैसा आहार लेकर रोग उत्पन्न किया है और अब उसे कैसा आहार हितकारी होगा, उस आहारमें रसकल्पना कैसी होनी चाहिये, रोगी कैसी परिस्थितिमें समय काट रहा है। इस प्रकार जो वैद्य दोष और ओषधियोंके निरूपणमें सूक्ष्म विचार करता है, वह कभी असफल नहीं होता। इसके विपरीत जो वैद्य आयुर्वेदविज्ञानकी परिपाटीके अनुसार विचार न कर अहंकारवश भयङ्कर रोगमें अल्पवीर्य ओषधि अथवा हलके रोगमें घबड़ाकर बहुत ऊँची ओषधि दे बैठता है, उससे रोग दूर होनेके बदले और भी प्रबल होता है और उस रोगके अलावा और भी भयङ्कर व्याधि–उपद्रव खड़े हो जाते हैं, जो फिर उसके रोके नहीं रुकते। इसलिये चरकने कहा है—

> दोषौषधादीन् सञ्चिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता।
> द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान्बुधाः।
> रसानेकैकशो वापि कल्पयन्ति गदान्प्रति॥

अर्थात् जो वैद्य चिकित्सामें यश प्राप्त करना चाहता है, उसे उचित है कि

रोगीके दोष, ओषधि, देश, बल, काल आदिका विचार कर जैसा उचित समझ पड़े उसी प्रकार ओषधि और आहारमें एकरस अथवा अनेक रसोंका संयोग करे। कुशल वैद्य रोगोंमें उत्पत्तिसिद्ध दो-दो, तीन-तीन रसवाले एक ही पदार्थका उपयोग करते हैं। अथवा एक-एक रसवाले अनेक द्रव्योंको मिलाकर अभीष्ट रसनिष्पादनकी कल्पना करते हैं। एक और अनेक रसवाले कुछ पदार्थोंका उदाहरण हम रसोंकी भेदकल्पनावाले प्रकरणमें दे चुके हैं। जो वैद्य रसोंका विकल्प और रसादिपरिज्ञानकी अन्य सब बातें नहीं समझ सकता, उसे रोगोत्पादक दोषोंका संयोग—सन्निपातादि विकल्प भी समझमें नहीं आ सकते। इसलिये चरकने कहा है--

य: स्याद्रसविकल्पज्ञ: स्याच्च दोषविकल्पवित्।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥

अर्थात् जो वैद्य रसोंका विकल्प यथार्थ रूपसे समझता है, वह रोगोत्पादक दोषोंके भी विकल्प, संयोग तथा सन्निपातादिके विकल्प-भेद समझ सकता है। इससे वह रोगोंके कारण और उनके लक्षण ठीक-ठीक पहिचानकर निःशंक होकर चिकित्सा कर्म कर सकता है। रोगोत्पादक दोषोंका प्रकोप अहितकारक आहारसे ही प्रायः उत्पन्न होता है। भोजन-सम्बन्धी पदार्थोंके हित अथवा अहित गुण रस-भेदसे जाने जा सकते हैं और दोष-विकल्प समझने पर रोगोंके लक्षण समझे जा सकते हैं। अतएव रस और दोष इन दोनोंका भेद यहीं समझ लिया जाय तो ओषधिका ज्ञान हो सकता है। ओषधि—द्रव्योंका स्वरूपज्ञान बिना रसादिपरिज्ञानके नहीं हो सकता। दोषोंके विरुद्ध द्रव्य-संयोजनका ही नाम ओषधि है। बिना रसादिपरिज्ञानके यह कैसे जाना जायगा कि यह पदार्थ किस दोषके विरुद्ध पड़ेगा और किस दोषके अविरुद्ध पड़ेगा। इसलिये रसविषयक जानकारी हर एक मनुष्यके लिये—विशेषकर प्रत्येक वैद्यके लिये होना निपट आवश्यक है।

चिकित्सा शास्त्रमें कीर्ति और यश प्राप्त कराने वाले दश गुण कहे गये हैं। उन दशों गुणोंके नाम ये हैं। १ परत्व, २ अपरत्व, ३ युक्ति, ४ संख्या, ५ संयोग, ६ विभाग, ७ पृथक्त्व, ८ प्रमाण, ९ संस्कार और १० अभ्यास। देश, काल, वय, परिमाण, रस, वीर्य और विपाक की प्रधानता, उत्कृष्टता और आरोग्य—दृष्टिसे अनुकूलताको 'परत्व' कहते हैं। इसी तरह देश, काल, वय, परिमाण, रस, वीर्य और विपाक की प्रधानता, खराबी और रोगोत्पादक स्थितिको 'अपरत्व' कहते हैं। मारवाड़ देश निरोगी होनेके कारण पर है और अनूप देश रोगोत्पादक होनेके कारण अपर है। वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतु अर्थात् विसर्गकाल आरोग्यके लिये अनुकूल होनेसे पर अर्थात् प्रधान है और वसन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु अर्थात् आदानकाल आरोग्यके लिये अनुकूल न होनेके कारण अपर है। तरुण वय प्रधान

और बाल तथा वृद्ध वय अप्रधान है। शरीरका परिमाण एक समान समसंहत (Symmetrical) होना प्रधान है और ढीला-ढाला ऊबड़-खाबड़ शरीर होना अपरत्व है। रस-वीर्य-विपाकमेंसे जिसका जिससे योग होता है, समता रहती हो वह प्रधान, शेष अप्रधान। दोष, काल, बल आदिका विचार कर उसीके अनुरूप जो योग्य ओषधिकी योजना की जाती है उसे 'युक्ति' कहते हैं। यौगिक योजनाको ही 'युक्ति' कह सकते हैं। जो योजना अयौगिक हो वह योजना होनेपर भी उसी प्रकार योजना कहाने योग्य नहीं है जैसे कुपुत्र, पुत्र कहाने योग्य नहीं होता। संयोग, परिमाण और संस्कार भी यद्यपि इसी युक्तिके अन्तर्गत हैं, तथापि इनका अलग महत्त्व होनेके कारण इनकी अलग परिभाषा बतलाना ही ठीक होगा। दोष, रस, रोग ओषधि आदि की गणनाके लिये एक, दो, तीन आदि गिनतीके व्यवहारको 'संख्या' कहते हैं। पृथक् पृथक् द्रव्योंके परस्पर सहयोग-संहतीभाव अथवा सम्मेलनसे उत्पन्न योगको अर्थात् प्राप्ति या सम्बन्धको 'संयोग' कहते हैं। संयोगके तीन भेद हैं। एककर्मज, द्वन्द्वकर्मज और सर्वकर्मज। जब एक की क्रिया और दूसरेके निश्चेष्टभावसे संयोग होता है तब उसे 'एककर्मज संयोग' कहते हैं। जैसे कौवेका वृक्ष पर आकर बैठना। इसमें केवल कौवेकी क्रिया है, वृक्ष की कोई क्रिया नहीं है। दो द्रव्योंके परस्पर सम्मेलनको 'द्वन्द्वकर्मज संयोग' कहते हैं जैसे दो मल्लोंका कुश्ती लड़ना, दो मेढ़ोंकी टक्कर बहुतसे द्रव्योंकी क्रियासे जो संयोगसिद्धि होती हैं, उसे सर्वकर्मज संयोग कहते हैं। जैसे किसी बर्तनमें बहुतसे चावलोंके डालनेसे जो संयोग होता है। वह सर्वकर्मज संयोग हैं अर्थात् किसीके द्वारा किये गये हैं; अतएव अनित्य हैं। क्योंकि किये हुए कर्म सभी अनित्य होते हैं। वचन है कि 'यत्कृतकं तदनित्यम्।' इससे यह मालूम पड़ता है कि अवयव और अवयवी अथवा अङ्ग और अङ्गीका जो सम्बन्ध होता है वह संयोग नहीं केवल उपलक्षण है। विभक्ति, विभजन, हिस्से करना, वियोग (संयोगका अभाव नहीं वल्कि भागशः ग्रहण अर्थात् वियोग) आदिको 'विभाग' कहते हैं। गुणकर्ममें संयोगका जो अत्यन्ताभाव होता है उसे विभाग नहीं कहते, यह विभाग भावरूपकी प्रतीति है। यह इससे भिन्न है, इसका इससे अर्थान्तर है, इसके ज्ञानको 'पृथक्त्व' कहते हैं। यह असंयोगका द्योतक है अर्थात् यह पटलक्षण द्रव्य, घटलक्षण द्रव्यसे भिन्न है, ऐसी बुद्धिकी प्राप्ति पृथक्त्व है। यह पृथक्त्व तीन प्रकारका होता है। एक असंयोग अर्थात् दो पदार्थोंका सदा परस्पर भिन्न रहना; जिनका कभी संयोग नहीं होता उनके पृथक्त्वको असंयोग कहते हैं। जैसे हिमालय और विन्ध्याचल पर्वतका अलगाव है। दूसरे भेदका नाम विजातीय पृथक्त्व है। अर्थात् दो पदार्थोंको यदि हम मिलावें भी तो विजातीय होनेके कारण उनमें जो भिन्नता रहती है, उस पृथक्त्वका नाम विजातीय पृथक्त्व है। जैसे भैंस, गाय, शूकर आदिको एकमें